रचना : क्यों और किन के बीच

रचना : क्यों और किन के बीच

['अज्ञेय' से कुछ संवाद]

प्रश्नकर्त्ता
शरत्कुमार
गीतिसेन
रमेशचन्द्र शाह
राजी सेठ
नन्दकिशोर आचार्य

भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ

प्रकाशक
भारतीय साहित्य प्रकाशन
२८६, चाणक्य पुरी, सदर,
मेरठ १

प्रथम संस्करण १६८८

मूल्य ६० ००

मुद्रक
भारती प्रिण्टर्स
के १६, नवीन शाहदरा,
दिल्ली ३२

हमे दु ख है कि 'अज्ञेय' जी की इस पुस्तक का प्रकाशन उन के जीवन-काल म पूरा न हो सका। कतिपय अपरिहाय कारणो से पुस्तक के मुद्रण म विलम्ब होता चला गया। माच १९८७ मे ही पुस्तक की छपाई शुरू हो पायी। अज्ञेय' जी इस के कुछ ही पृष्ठो के प्रूफ देख पाये थे कि ४ अप्रल १९८७ को अकस्मात उन का देहावसान हो गया। इस वज्राघात से पुस्तक के प्रकाशन म व्यवधान पड़ना स्वाभाविक था।

शुरू के दो पृष्ठ 'अज्ञेय' जी ने अपनी भूमिका के लिए छुड़वाये थे, परन्तु दुर्भाग्यवश उस के लिखे जान के पूव ही वह चिर निद्रा म लीन हो गये और उन्ही के साथ ही मौन हो गय वे शब्द भी जिन्ह वह भूमिका के माध्यम से व्यक्त करना चाहत थे।

इस पुस्तक म सकलित सवाद १९८५ के अन्त तक सम्पन्न हुए थे। अत इन म व्यक्त विचारो को साहित्य और रचना कम के विविध पहलुओ पर अज्ञेय' जी के नवीनतम चिन्तन की प्रस्तुति ही समझना चाहिए।

—प्रकाशक

क्रम-सूची

रचना-कर्म के कुछ पहलू

भेंट-वार्त्ताकार
शरत्‌कुमार, गीति सेन

शरतकुमार   कवि और साहित्यकार के नाते आप को भारत के मुख्य साहित्यिक पुरस्कार मिल चुके हैं। ऐसा भी समाचार आया है कि आप का नाम एक विदेशी पुरस्कार के लिए भी प्रस्तावित हुआ है। आपने लेखक बनने का निश्चय कसे किया ? आपने तरह-तरह के काम किये हैं, लेकिन आप निरन्तर एक सजग साहित्यकार ही बने रहे हैं।

अज्ञेय   पुरस्कारो की बात छोड ही दी जाय तो क्सा हो ? उन स केवल ध्यान बँटता है। कभी कभी वह चर्चा सुखद भी होती है, लेकिन काम से तो ध्यान हटाती ही है।

मैंने लेखक बनने का निश्चय बचपन म ही कर लिया था, बल्कि चेतन भाव से 'निणय' नही किया, जान लिया कि मैं लेखक ही बनूगा। बाल्यावस्था म ही शब्दा के जादू से और एक साथ ही कई स्तरो पर सवाद या सम्प्रेषण करने की सम्भावना स मैं परिचित हो गया—और वह जादू तब से मेरे साथ ही है। इस म कुछ योग इस बात का भी था कि मैं आरम्भ से ही हिन्दीभाषी क्षेत्र के बाहर रहता रहा। मेरे पिता पुरातत्त्वविद थे और उत्खनन के सिलसिले मे एक जगह से दूसरी जगह जाते रहते थे—प्राय सुनसान जगहा म। मैं यह सकता हूँ कि मैं हिन्दी क्षेत्र के बाहर ही नही, अधिकतर सभ्य' प्रदेशा के बाहर ही रहता रहा।

इसस एक लाभ मुझे यह हुआ कि आरम्भ से ही मेरा परिचय एक लिखी पढी जाने वाली भाषा से हो गया—उस समय की 'मानक' हिन्दी से। निश्चय ही यह एक सीमा भी थी जिसे मैंने धीरे धीरे ही पहचाना। एक तरह से मेरी लेखन यात्रा पुस्तक की भाषा से आज की बोल चाल की भाषा तक की यात्रा है। यह यात्रा काफी लम्बी थी—कई वर्षों की—लेकिन अन्तत मै हिन्दीभाषी समाज म कही पहुँच तो गया।

इस का अथ यह हुआ कि आप दूसरी बहुत-सी चीजों के साथ प्रयोग करते रहे, लेकिन हमेशा इसी परिणाम पर पहुँचते रहे कि अकेले लेखन का आकषण ही सब से अधिक है। अच्छा, आप का 'शेखर एक जीवनी' तो उपन्यास है इसे आपने आरम्भ से ही एक बडी साहित्यिक रचना के रूप मे आयोजित किया था कि बहुत-सी कहानियाँ लिख चुकने के बाद उपन्यास की ओर आकृष्ट हुए ?

शेखर एक जीवनी के बारे म एक विशेप वात है। यो तो उस से पहले मैं कुछ कहानियाँ और कुछ कविताएँ भी लिख चुका था। लेकिन शेखर एक जीवनी के साथ विशेप वात यह है कि उस का पहला मसविदा मैंने जेल मे लिखा और उस समय वह एक उपन्यास की अपेक्षा मेरे जीवन की आत्मकथा ही अधिक था, या कह लीजिए कि वह एक उपन्यस्त आत्मकथा ही थी। उस परिस्थिति म सच्ची आत्मकथा तो वह हो ही नही सकता था। हुआ यह था कि एक भूमिगत क्रान्तिकारी दल के सदस्य के रूप म मैं गिरफ्तार हुआ था और उस समय की जो परिस्थितियाँ थी उन म यह सम्भावना भी सामने थी कि मृत्यु दड मिल सकता है। मैं तब उन्नीस वप का था। यह सवाल था कि उन्नीस वप के युवक का जीवन अगर एकाएक उस बिन्दु पर समाप्त कर दिया जाय तो जीवन का क्या अथ है? उपन्यास एक तरह से इस प्रश्न का जवाब खोजने का प्रयत्न था। इस प्रकार उस उम्र म जीवन समाप्त कर दिया जाय तो अपने जीवन की अथवत्ता क्या होगी?

पहला मसविदा पुलिस हवालात से जेल ले जाये जाने के फौरन बाद बडे तनाव की स्थिति म तीन चार दिन म लिख डाला गया था। जेल पहुँचते ही मुझे लेखन सामग्री रखने की अनुमति मिली थी और सब से पहला काम मैंने यही किया था कि दिन रात एक कर के तीन कापियाँ भर दी थी। वह मसविदा अभी मेरे पास है। वह उपन्यास कहलाने योग्य नही है न ही वह आत्मकथा हो सकता था क्यो कि मेरे जीवन मे ऐसे बहुत से तथ्य थे जिन का उस समय उल्लेख तक नही किया जा सकता था। लेकिन इस अथ मे उसे निश्चय ही आत्मकथात्मक लेखन माना जा सकता है कि मैंने यह कोशिश जरूर की थी कि एक क्रान्तिकारी के बनने की एक भावनात्मक जीवन गाथा प्रस्तुत की जा सके। फिर जेल मे ही एक दूसरा मसविदा तैयार हुआ। फिर एक तीसरा। फिर पूरी तरह मुक्त हो जाने के बाद चौथा मसविदा तयार हुआ और यही थोडे-बहुत सशोधन के बाद प्रकाशित हुआ। हर बार मसविदे का रूप काफी बदलता गया और उसकी आत्मकथात्मकता भी पहले मसविदे से कम होती गयी। शुरू मे तो केवल एक क्रान्ति-कर्मी लिख रहा था, अनन्तर मसविदे पर एक सजग साहित्यकार भी काम कर रहा था।

पहली प्रकाशित कहानियाँ—या यो कहूँ कि साहित्यिक सन्दभ म आ गयी पहली कहानिया, क्यो कि कुछ कहानियाँ उस से पहले कालेज की पत्रिका म या इधर उधर छप चुकी थी जिन की ओर ध्यान देना अनावश्यक है—पहली प्रकाशित कहानियाँ भी जेल से ही चोरी से बाहर भेजी

गयी थी। इन की पाडुलिपि अन्तत एक बधु के माध्यम स प्रेमचन्द तक पहुँची, उन्हे कुछ कहानिया पसन्द आयी। यह तो स्पष्ट था कि उस युग की परिस्थितिया म वह उन सब कहानियों को नही छाप सकते थे—राजनीति की दृष्टि स कहानियाँ ज्यादा 'गरम' थी—लेकिन दो के बारे मे उन की यह राय बनी कि उन्हे प्रकाशित किया जा सकता है, एक मे थोडा-सा जोखम हो सकता था लेकिन दूसरी के साथ कोई कठिनाई नही थी। मेरे बधु से उन्होंने जानना चाहा कि कहानियों का लेखक कौन है, बधु ने उन्हे यही उत्तर दिया कि यह तो वह नही बता सकते—लेखक तो अज्ञेय है'। इस पर प्रेमचन्द जी ने कहा कि वह लेखक का यही नाम दे कर कहानिया छाप देंगे और ऐसा ही हुआ भी। मैंने अपने लिए तो यह नाम न चुना होता। अब भी उस से कभी कभी असमजस होता है। नाम भारी जान पडता है लेकिन फिर सोचता हूँ कि पिता ने जो नाम दिया वह भी कुछ कम भारी नही है इस लिए सह लेता हूँ।

आपने 'अकलक' शीर्षक कहानी उन्हीं दिनो लिखी?

हाँ, वह भी जेल मे लिखी गयी। उन दिनो कई एक कहानियों के लिए घटना-सामग्री मैंने अलग-अलग देशो के क्रान्ति-आन्दोलनो से ली थी—रूस से, चीन स, क्यूबा स, मक्सिको स, ग्रीस स। सभी कहानिया अच्छी बन गयी हो ऐसा तो नही था—

> आइन्स्टाइन बडे साहित्य प्रेमी थे, यह तो आप जानते हैं। सुनते हैं कि उन्होने कभी कहा था कि अपने सारे शोध-कार्य से ज्यादा खुशी उन्हे 'दि ब्रदर्स कारामाजोव' लिख कर हुई होती। आप के 'नदी के द्वीप' मे सकेत मिलता है कि भौतिक विज्ञान मे आप की रुचि रही। वैज्ञानिको मे अपने पर्यवेक्षण के प्रति एक विषय निरपेक्षता, एक तटस्थता रहती है। आप क्या सोचते हैं कि लेखक मे भी यह गुण होता है—जो वह देखता है उस के प्रति ऐसी तटस्थता?

नही, मेरे ख्याल मे तो आइन्स्टाइन की उक्ति उन के अपने काम के बारे मे उतनी नही है जितनी दस्तोएवस्की के उपन्यास के बारे म। मुझे और एक सेना-नायक की उक्ति याद आती है जिसे एक कविता इतनी पसन्द आयी थी कि उस पर वह अपनी युद्धा म पायी हुई सारी सफलताएँ निछावर कर सकता था। यहा भी मैं सोचता हूँ कि बात अपने काम के मूल्याकन की उतनी नही है जितनी कविता के रागात्मक प्रभाव की। विषयी निरपेक्ष मूल्याकन और विषयी की रागात्मक प्रतिक्रिया मे भेद करना चाहिए

जहा तक मेरे उपन्यास का सवाल है—हाँ, मैं भौतिक विज्ञानी का प्रशसक हूँ। मैंने जितना भौतिक विज्ञान पढा उस से मैंने बहुत कुछ सीखा—मैं विज्ञान का विद्यार्थी था और विशेष रूप से मैं भौतिक विज्ञान के अपने गुरु का प्रशसक था। वह अमरिकी थे। वह बडे धर्मप्राण व्यक्ति थे—या शायद मुझे कहना चाहिए कि वह बहुत गहरे नैतिक सरोकारो वाले व्यक्ति थे। अपने विद्यार्थी-काल में ही उन के साथ एक सखा भाव का सौभाग्य मुझे मिला था। उस के बाद प्राय पचास वर्षों तक यही सम्बन्ध बना रहा—तीन एक वर्ष पहले उन की मृत्यु हो गयी।

विज्ञान से मुझे व्यवस्थित ढग से सोचने की शिक्षा मिली, मेरा ख्याल है कि मेरे लेखन पर भी उस की छाप है, इसी लिए शायद वह दूसरे हिन्दी लेखको के लेखन से कुछ भिन्न है। कुछ लोग इसी लिए उसे अधिक विदेशी मानते हैं। मैं तो नही समझता कि इस लिए वह विदेशी हो जाता है। इतना ही है कि उस मे सीधा और सिलसिलेवार चिन्तन और अपने विचार की प्रक्रिया या उस के परिणामो को नपे-तुले शब्दो में रखने का प्रयत्न होता है। विचार का ही नही, अपने चिन्तन और अपने भावो के सम्बन्धो का भी सही विवेचन और निरूपण करना चाहता रहा हूँ।

गीति सेन मेरा प्रश्न लेखक के वास्तविक स्वभाव के बारे मे है। आपने जेल मे लिखी गयी पुस्तक की आत्मकथामूलक वस्तु की चर्चा की। अभी आपने अपनी रचना के 'विदेशीपन' का भी उल्लेख किया। आप के ख्याल में यथार्थ को कहा तक कल्पना या 'फन्तासी' के साथ जोडा जा सकता है? यथार्थवादी रचना और फन्तासीमूलक रचना के औचित्य के बारे मे आप कुछ कहना चाहेंगे?

जहाँ तक कला-सर्जना का सवाल है, मुझे यथार्थ और फन्तासी को एक दूसरे के विरुद्ध खडा करने मे सकोच होगा। दोनो ही एक बृहत्तर यथार्थ को पकडने के प्रयत्न का अग होते है। फन्तासी भी उस के लिए उपयोगी है फन्तासी या कल्पना से हम म से कोई भी मुक्त नही होता। हम सभी हमेशा जाने रहते हैं कि यथार्थ का एक स्तर है जो कल्पना से बिल्कुल अलग है। लेकिन हम यह भी लगातार जाने रहते हैं कि कल्पना हमारे यथार्थ जीवन का एक अग है—या स्वय एक यथार्थ है। कह सकते हैं कि एक बृहत्तर समग्र यथार्थ के दो पहलू हैं और सर्जक कलाकार इन दोनो के बीच की दीवार तोड देता है या रूपक बदल कर कह लीजिए कि उन के बीच एक सेतु बना रहता है। साहित्य पाठक को सजग कर देता है कि वह एक बाहरी जीवन के साथ-साथ एक आभ्यन्तर जीवन भी जी रहा है और

दोनो को साथ जोड कर ही जीवन की अर्थवत्ता पकड मे आती है ।

गीति सेन मेरा सवाल विशेष रूप से भारतीय सन्दर्भ मे है। मुझे लगता है कि यहाँ हमेशा जीवन के सारे ताने-बाने मे यथार्थ और मिथक का एक अपूर्व मिश्रण रहता है। शायद भारतीय फिल्मे और उन फिल्मो की लोकप्रियता इस का अच्छा उदाहरण है।

यह विशेष रूप से भारतीय प्रवृत्ति हो, ऐसा तो मुझे नही लगता। सभी जगह ऐसा है। अमेरिका मे ऐसे उपन्यास लिखे गये हैं जिन के किशोर नायक काल्पनिक चरित्र गढते हैं—एक काल्पनिक सखा गढ कर फन्तासी के जगत् में उस के साथ अपने दिन काटते हैं—अपने अकेलेपन का भरते है। ऐसे बालको के जीवन की यथार्थता को समझने के लिए फन्तासी की रचना प्रक्रिया को समझना जरूरी होता है। किशोर जीवन की यथार्थता तो हम समझ ही नही सकते जब तक यह न जानें कि किशोर का एक कल्पना-जीवन भी होता है—कल्पना-जीवन उस के अपने यथार्थ को समझने की और आत्मसात् करने की प्रक्रिया का अग है।

मिथक—मिथक तो दूसरी बात है और अलग से विचार माँगती है।

शरत्कुमार आप क्या सोचते हैं कि उपन्यास या कहानी मे किसी न किसी तरह यह जरूरी हो जाता है कि किसी जीवित व्यक्ति का या अपने ही किसी अनुभव के बिम्ब का सहारा लिया जाये—चाहे उसे रचना की प्रक्रिया मे कल्पना के सहारे रूपान्तरित कर दिया जाये ? और आप क्या सोचते हैं कि लेखक का दृष्टिकोण साधारण रूप से करुणा का होना चाहिए—यानी वैज्ञानिक के विश्लेषण या निदान से अलग ?

लेखक को क्या होना चाहिए—इस 'चाहिए' का कोई नुसखा तो मैं कभी नही दूगा। लेखक घटनाओ को वज्ञानिक की विश्लेषण या निदान करने वाली दृष्टि से भी देख सकता है और दूसरी ओर उन से बहुत गहरे सम्पृक्त भी हो सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि वह अपने निजी अनुभवो से काम ले—यानी निजी अनुभव से आरम्भ करे और क्रमश अपने को उस से अलग करता चले, और यह बिल्कुल सम्भव है कि जो साहित्यिक कृति उस के सामने आये वह इस अलग होने की प्रक्रिया का ही वृत्तान्त हो। यह भी हो सकता है कि वह इस अलग होने की प्रक्रिया के पूरे हो जाने तक रुका रहे और उस के बाद ही कोई असम्पृक्त रचना करे। ऐसा भी हो सकता है कि उस की यात्रा इस से उलटी दिशा मे हो—एक नि सग ब्यौरे से आरम्भ कर के उस को धीरे धीरे अनुभव की भट्ठी के पूरे ताप

तक ले जाये। रचना की सफलता या उस के गुणात्मक मूल्य का निर्णय हम सिर्फ प्रक्रिया के आधार पर नही करते बल्कि अंतिम परिणाम के आधार पर करते है।

आपने चार उपन्यास लिखे और बहुत-सी कहानिया लिखीं, लेकिन इधर बीस वर्षों से आपने कोई कहानी नहीं लिखी और आपने अपने को कविता तक सीमित कर लिया है। ऐसा क्यो और कसे हुआ ? क्या इस का कोई विशेष कारण रहा ?

शायद यह कहना सच हो—शायद इस लिए कह रहा हूँ कि मै कोई वादा नही कर रहा हूँ—कि मैं कहानी के पार निकल आया। लेकिन ऐसा नही है कि मैंने उपन्यास या आख्यान यानी फिक्शन छोड दिया हो। इतना ही है कि एक उपन्यास और दूसरे उपन्यास के बीच का अतराल लम्बा होता गया है। कविता काफी लिखता रहा हूँ—वह भी अब अपेक्षया कम लिखता हूँ, फिर भी लिखता ही रहा हूँ। शायद मैंने अततोगत्वा जो आत्म बिम्ब स्वीकार कर लिया है वह मुझे उपन्यासकार की अपेक्षा कवि ही बनाता है। चीजो का देखने की मेरी दष्टि कवि की दष्टि है। अभी पहले मैंने फन्तासी के बारे मे जो कुछ कहा वह भी इस से जुडा हुआ हागा। निश्चय ही कवि कहानिया भी लिख सकता है। औरो ने भी ऐसा किया है और ससार की कुछ श्रेष्ठ कहानिया कवियो की लिखी हुई है या वास्तविकता को देखने की कवि की दृष्टि सकेतित करती हैं। लेकिन मेरा ख्याल नही है कि कोई कवि—अगर वह कवि बना रहे तो—उतने से सतुष्ट हो जाता है

जहाँ तक उपन्यास का सवाल है अपने काम का ध्यान म रखते हुए या उपन्यासकार के रूप म अपनी जाच करते हुए मैंने जाना कि मरा सरोकार हमेशा शुद्ध बाहरी घटना की अपेक्षा भीतरी जीवन से अधिक रहा है। भीतरी जगत् के उपन्यास रोज रोज नही लिखे जा सकते। भीतरी जगत् की यात्राएँ बाहरी जगत की यात्राओ की अपेक्षा धीमी गति से चलती है। बाहरी जगत् के बारे मे उपन्यास को बहुत सी घटनाओ से भर दिया जा सकता है जिन मे कि एक घटना और दूसरी घटना के बीच कोई आभ्यन्तर विकास न हुआ हो। लेकिन अगर भीतरी जगत के बारे मे लिखना हो तो एक उपन्यास स अगले उपन्यास के बीच खुद उपन्यासकार को विकसित होना होता है। और उस विकास की अपनी धीमी गति है। वह यात्रा कठिनतर भी है इतना ही कह सकता हूँ।

पिछले कुछ वर्षों म दो और उपन्यासो पर काम करता रहा हू। आशा करता हूँ कि एक शायद अगले वर्ष प्रकाशित हो जाये।

'अपने-अपने अजनबी' के बाद यह पहला उपन्यास होगा ?

हाँ।

बुद्ध का एक वाक्य है, 'तुम जो कुछ हो वह जो तुमने सोचा उस का परिणाम है'। इस का अर्थ यह हुआ कि जो भी प्रक्रियाएँ हमारे विचारों के गुण निर्धारित करेंगी वह हमारे सम्पूर्ण जीवन को भी निर्धारित करेंगी। अगर कलाओं की प्रक्रिया ऐसी है तब तो वे एक अत्यन्त प्रासंगिक माध्यम हैं जिस का समाज को पूरा समर्थन करना चाहिए, जिस की समाज को चिन्ता करनी चाहिए।

अज्ञेय : क्या मैं बुद्ध की उक्ति के साथ एक और उक्ति की ओर ध्यान दिला सकता हूँ 'तुम वही बन सकते हो जो कि तुम हो'। जहाँ तक सर्जनात्मक लेखन का सवाल है, मैं समझता हूँ कि यह ज्यादा प्रासंगिक है। आप के चिन्तन में आप की अस्ति अधिक महत्त्व की है। तो बुद्ध की बात का विरोध किये बिना मैं कहूँगा कि कलाकार का नाता उस से है जो कि आप हैं, क्यों कि वही आप बन रहे हैं। 'अस्ति' 'भवति' की शर्त है। कलाकार यही करता है कि पाठक को या कि पूरे समाज को सचेत कर देता है कि वह क्या है—उस की अस्ति क्या है और उस की सम्भूति क्या है। दूसरे शब्दों में वह चिन्तन के विकास में उतना नहीं जितना संवेदन के विकास में योग दे रहा होता है। मेरी बात का यह अर्थ नहीं है कि दोनों में सम्बन्ध नहीं है, लेकिन सवाल बुनियादी सरोकार का है। किसी इकाई का, कलाकार का और समाज का, दूसरों से क्या सम्बन्ध बनता है यह इस पर निर्भर है कि वे किस संवेदन से आरम्भ करते हैं और फिर कलाकृति से—यहाँ पर साहित्यिक रचना से—परिचय होने के बाद क्या परिवर्तन संवेदन में घटित होते हैं।

मैं समझता हूँ कि समाज पर कलाकार का प्रभाव भी इसी माध्यम से होता है। कलाकार समाज को बदलने के इरादे से आरम्भ नहीं करता। वह उस का प्रयोजन नहीं है। लेकिन कलाकार जो करता है उस का परिणाम यह अवश्य होता है कि संवेदन में कुछ परिवर्तन आता है वृद्धि होती है या विकास होता है। और परिणामतः लोगों का अपने आस पास के जगत से नाता बदलता है, सरोकार बदलता है। बदले हुए सम्बन्धों से समाज को बदलने की प्रेरणा भी मिल सकती है मैं नहीं जानता कि यह आप के प्रश्न का उत्तर हुआ या नहीं।

हम मान लें कि रचना का संवेदन पर, जैसा आपने बताया है, एक व्यापक और अनेकायामी प्रभाव पड़ता है। यह भी मान लें कि इस बात का भी महत्त्व है कि हम शुरू कहाँ से करते हैं—हालाँकि यह

भी सच होगा कि हम उसी चीज़ को समझ सकते हैं जिस का हमने किसी न किसी प्रकार अनुभव किया हो। जिसे बिल्कुल जाना ही न हो उसे हम समझ कैसे सकते हैं? लेकिन अच्छी कलाकृति का यह प्रभाव भी तो होता होगा कि वह अनुभव को और विस्तार दे दे, और विशद कर दे—और इस प्रकार वह अधिक सारमय, अधिक यथार्थ हो जाये? क्या इस से आप सहमत होंगे?

आप एक महत्त्वपूर्ण कड़ी भूल रहे हैं। आपने अनुभव किया इस लिए आपने समझ भी लिया, ऐसा नहीं है। बिल्कुल ज़रूरी नहीं है कि आप अपने अनुभव को समझ भी जायें। आप के लिए यह ज़रूरी है कि पहले आप अपने अनुभव को पहचानें तभी आप उसे समझ सकते हैं। इस का अर्थ है कि आपने अनुभव के प्रति एक आलोचनात्मक, विवेकमूलक रवैया अपना लिया है। ऐसा बहुत कुछ है जिस का हम अनुभव करते हैं लेकिन जिसे हमने समझा बिल्कुल नहीं होता। और यह तो है ही, जैसा मैंने पहले भी कहा, कि अनुभव का विस्तार भी बढ़े हुए संवेदन का परिणाम होता है।

अक्सर कहा जाता है कि बहुत सी चीज़ों की समझ निजी अनुभव से ही प्राप्त होती है। लेकिन क्या यह कहना सही होगा कि महान कला प्रत्यक्ष निजी अनुभव का स्थान ले सकती है—उस की पहुँच बढ़ा सकती है या उस की कालावधि को छोटा कर सकती है—उस की गति बढ़ा सकती है?

नहीं। यह मानना ठीक नहीं होगा कि कला प्रत्यक्ष अनुभव की जगह ले सकती है या लेना चाहेगी। कला स्वयं एक प्रत्यक्ष अनुभव है इस से अलग वह किसी चीज़ का स्थानापन्न न है, न हो सकती है न होना चाहती है। वह संवेदन उत्पन्न कर सकती है, उस का विस्तार और संस्कार कर सकती है और ऐसा कर के वह आप की इस में भी सहायता कर सकती है कि आप दूसरों के अनुभव में प्रवेश कर सकें, बहुत बड़े अनुभव में बहुत गहराई तक प्रवेश कर सकें और, हां अधिक शीघ्रता से प्रवेश कर सकें। लेकिन ये सब अनुभव के एवज़ी नहीं हैं, ये अनुभव की एक दूसरी कोटि हैं।

मेरा मतलब था—उदाहरण के लिए, आप 'अन्ना कारेनिना' को लीजिए। आप उपन्यास पढ़ते हैं और रोमानोव परिवार के अनुभव से, अन्ना के विवाह से, अपने पति, अपने प्रेमी और अपने बच्चे के लिए उस के प्रेम से और इन सब के परिणामों से गुज़र लेते हैं

आपने कुछ ही दिनो मे उपन्यास पढ लिया तो वह पूरे अनुभव के जीवन से कही कम समय मे हो गया। और यह सवाल तो अलग है कि वास्तव मे वसा जीवन अनुभव करने की सम्भावना आप के लिए कितनी थी। तो क्या इस प्रकार पढने के अनुभव से आप अधिक समृद्ध हुए ?

आप जो कह रहे हैं वह असल म इतना ही है कि उपन्यास पढने मे जितना समय लगता है उपन्यास की कथा की कालावधि उस स कही लम्बी हो सकती हे। उपन्यास के वाचन का अनुभव और उपन्यास के चरित्रो का जीवनानुभव अनिवायत अलग अलग चीजें हैं और पाठक दोनो के इन दोना आयामा म से गुजरता है। लेकिन आप जब उपन्यास पढते है उस के सहारे दूसरे चरित्रा के जीवनानुभव म प्रवेश करत है तो आप हमेशा जानते रहते हैं कि वह किसी दूसरे का अनुभव है। अन्ना कारेनिना के जीवन का समझना या उस का अनुभव करना, और स्वय अन्ना कारेनिना होना, दो अलग अलग चीजे है। दोना अनुभव एक नही है— यानी अन्ना न जीवन को जसे जिया और भोगा और उपन्यास पढते हुए हम जैसे उस के जीवन को जीते और भोगते हैं, दोना आत्यन्तिक रूप से अलग रहते हैं।

हम अनुभव की बात कर रहे हैं—क्या आप सोचते हैं कि साहित्य सजक यत्नपूवक अनुभव की खोज करता है ? और अगर करता है तो क्या उस का अनुभव आयास सिद्ध और नकली होता है, या कि ऐसा होता है कि जो भी अनुभव उसे प्राप्त हो उसे वह आत्मसात कर सकता है और उसे कलात्मक रूप दे सकता है ?

यह तो मैं जानता हूँ कि कुछ लेखक यत्नपूवक अनुभवा की खोज करने निकलते हैं। जिस हद तक अनुभव की उन की खोज का लक्ष्य यह होता है कि उन्हे पुस्तक के लिए मसाला मिल जाये, उस हद तक वे अपने सम्बन्धो का दोहन कर रहे होते हैं। और मेरा ख्याल है कि ऐसे अनुभव उस हद तक पाठक के लिए कम प्रामाणिक हो जाते हैं। निश्चय ही इस के बावजूद एक रोचक और पठनीय पुस्तक बन सकती है। लेकिन जहाँ इस चेतना का कोई सम्बन्ध कथा के लिए दुहा गया वहाँ अनुभव की वैसी गहराई का बोध नही होता, सवेदन म वैसा उन्मेष नही होता।

अनुभव के प्रति खुले तो रहना चाहिए। अनुभव प्राप्त हो तो उसे भोगना चाहिए, आत्मसात् करना चाहिए, उस का विवेचन भी करना चाहिए—मैं कहूँ कि उस का साधारणीकरण भी करना चाहिए उसे सावजनीन आयाम दे कर उस से कुछ असम्पृक्त भी हो जाना चाहिए।

इस प्रकार आया हुआ और छन कर पुनः प्रस्तुत किया हुआ अनुभव एक प्रामाणिकता का स्पन्दन रखता है जो पाठक को छूता है। मेरा विश्वास है कि महान साहित्य इसी कोटि के अनुभव में से निकलता है। पहली कोटि के सचेत रूप से खोजे गये अनुभव में, सादृश्य भाग सम्बन्धों से जो अनुभव प्राप्त होता है वह बड़ा दिलचस्प भी हो सकता है लेकिन उस से महान् और टिकाऊ साहित्य नहीं बनता। महान् साहित्य पाठक का जैसा रूपान्तरण कर देता है वैसा उस से नहीं होता।

कथा साहित्य की सरचना की बात करें। ऐसी हर रचना में और खास तौर से कहानियों उपन्यासों में कथा का तत्त्व होता है। अगर उपन्यास या कहानी की किसी अमूर्त सरचना के लिए इस कथा-तत्त्व को बिल्कुल निकाल बाहर कर दिया जाये या उसे साहित्यिक-बौद्धिक व्यायाम में परिवर्तित कर दिया जाये तो क्या यह इस बात का संकेत होगा कि साहित्य अथवा कथा-साहित्य का ह्रास-युग चल रहा है ?

आप तो सवाल का निरूपण ही ऐसे कर रहे हैं कि वही उत्तर मिल जाय। मेरी स्पष्ट राय यह है कि कथा में कथा तत्त्व होना जरूरी है। यह आप के सवाल के एक हिस्से का जवाब है। लेकिन कथा-तत्त्व है क्या, इस का स्पष्टीकरण अब भी अपेक्षित है। कहानी अथवा कथा साहित्य के विकास के साथ साथ कथा तत्त्व की, घटना की हमारी अवधारणा भी बदलती गयी है। ऐसा होता है कि कुछ घटित हुए होने के किसी बाहरी लक्षण के बिना भी बहुत कुछ घटित हुआ हो। वह भी कहानी है। आप दो मिनट निश्चल बैठे-बैठे—बिना ज़रा भी हिले-डुले—अनुभव की एक पूरी दुनिया से गुजर जा सकते हैं। अब यदि आप को पता है कि ऐसा हुआ है और उस अनुभव को आप सम्प्रेषित कर सकते हैं तो वह कहानी है। यह भी हो सकता है कि बिना किसी घटना वाली यह कहानी बहुत अच्छी और समर्थ कहानी हो।

इस विशदीकरण के साथ दोहराऊँ कि कथा-तत्त्व जरूरी है और अगर उस की नियति होती है या वह बिल्कुल लुप्त ही हो जाता है तो उस हद तक कहानी-उपन्यास की भी नियति होती है—और मैं समझता हूँ कि ऐसा हुआ भी है।

ऐसा अनुभव होता है कि यान्त्रिकी के आगमन और इतने तेज विकास के साथ अब तोल्स्तोय या दस्तोएव्स्की जैसे उपन्यास लिखे ही नहीं जा सकते। सी० पी० स्नो ने इस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी है—इन उपन्यासों को वह यथार्थवाद के महान

उपन्यास कहता है।

हाँ, एक नयी जाति का उपन्यास सामने आया है जिसे अखबारी उपन्यास (जर्नलिस्टिक नॉवेल) कहा जा सकता है। यथार्थ की हमारी पकड़ बदलती है, यथार्थ के तत्त्व भी बदलते हैं तो कोई कारण नहीं है कि उपन्यास भी न बदले। यह हम क्यों मान लें कि उपन्यास के लिए बहुत बड़ा सामाजिक विस्तार जरूरी ही है जब कि समाज के साथ हमारा सम्बन्ध बदल रहा है? यह बिल्कुल सम्भव है कि आज पूरे समाज की अपेक्षा कोई एक मशीन ही मेरे जीवन का अधिक महत्त्वपूर्ण, अधिक तात्कालिक अंग हो। यदि ऐसा है तो इस बात का महत्त्व है कि पूरे समाज के साथ मेरे रिश्ते की अपेक्षा उस यन्त्र के साथ मेरे रिश्ते की खरी और प्रामाणिक अभिव्यक्ति हो।

इस बात का मतलब असल में यह है कि हम समाज की दूसरी परिभाषा कर रहे हैं। हम जब उपन्यास और उस के सन्दर्भ की चर्चा करते हैं तो जैसे मान लेते हैं कि समाज तो पहले से मौजूद है, 'दिया हुआ' है और यह भूल जाते हैं कि समाज वह है जिससे हमारा रिश्ता है। अगर कोई रिश्ता नहीं है तो कोई समाज नहीं है। और आधुनिक सभ्यताओं में यह बात लगातार अधिक सत्य होती जा रही है।

ऐसा माना जाता है कि कलाकारों और साहित्यकारों के साथ जीवन बिताना बड़ा मुश्किल होता है। कई महान कलाकारों के व्यक्तिगत जीवन आदर्श जीवन बिल्कुल नहीं होते। फॉकनर ने कभी कहा था 'एक अच्छी कविता अनेक बूढ़ी महिलाओं और माताओं से ज्यादा मूल्यवान् होती है'। अक्सर देखा गया है कि बड़े से बड़े साहित्यकार बड़ा सिद्धान्तहीन व्यवहार करते हैं। आप क्या सोचते हैं कि कलाकार क्यों कि समाज को बड़े ऊँचे दर्जे का योगदान देता है इस लिए उस को ऐसी आजादी मिलनी चाहिए जो दूसरों को नहीं मिलती या कि उस के काम के लिए इस तरह की आजादी जरूरी है।

आपने कई प्रश्नों की लड़ी बना दी। मैं बीच वाले प्रश्न से शुरू करता हूँ। मान लीजिए कि मैं फाक्नर की उक्ति को उलट देता हूँ 'एक अच्छी माता एक दयालु बूढ़ी महिला ढेर सारी कविताओं से अधिक मूल्यवान् होती है'। मैं समझता हूँ कि यह बात भी उतनी ही सच होगी। इतना ही नहीं, मैं समझता हूँ कि स्वयं फॉक्नर भी इस बात को मान लेते। वह इतने भाग्यवान् नहीं हुए कि एक अच्छी माता को जान सके होते।

जहाँ तक लेखकों का सवाल है, यह सच है कि उन के साथ जीना

बहुत मुश्किल होता है, लेकिन लेखक के साथ जीना कोई क्यों चाहे? बात यह है कि लेखक—सभी कलाकार—बड़े संवेदनशील प्राणी होते हैं। बड़ा सघन जीवन जीने वाले, और सघन संवेदनशील लोगों के साथ जीना हमेशा कठिन होता है, वे चाहे लेखक और कलाकार न भी हों। यह सघनता एक तरह की एकाग्रमुखता, एक धुन पैदा करती है जिस के कारण व्यक्ति असहिष्णु, दूसरे का ख्याल न करने वाला, बल्कि निर्दयी हो जा सकता है। लेकिन जैसा मैंने कहा इस तरह की आत्म केन्द्रित निर्दयता केवल कलाकारों में होती हो ऐसा नहीं। ऐसे बड़े सेनानायक भी हुए हैं राजनीतिक भी हुए जो अपने निजी सम्बन्धों में इतने ही निर्दय रहे। कई विचारक भी काफी हृदयहीन पाये गये हैं। सवाल इस एकनिष्ठ लक्ष्योन्मुखता का, धुन का है। और असल में हम अपना निर्णय उस के परिणामों के आधार पर ही करते हैं। अगर कलाकार ऐसी निर्ममता के बाद ऐसा कुछ प्रस्तुत करता है जिसे समाज मूल्यवान् मानता है तो समाज उस के आचरण को क्षमा कर देता है। आप के सवाल का जवाब यह है कि कलाकार को आज जितना अकेला छोड़ा जाता है उस से कहीं अधिक अकेला छोड़ दिया जाना चाहिए। ऐसे अकेलेपन से उस को ज़रूर बहुत लाभ होगा और शायद समाज का भी बहुत लाभ होगा।

लेकिन समाज से उन का सम्बन्ध नहीं रहेगा तो कला के लिए उन के पास सामग्री ही नहीं रहेगी।

जी नहीं। सम्बन्ध का मतलब हस्तक्षेप नहीं होता। आप कलाकार को अकेला छोड़ दीजिए और उसी को तय करने दीजिए कि उस का आप से कितना सम्बन्ध और कैसा सरोकार है—आप का-उस का सम्बन्ध नहीं, आप के साथ उस का सम्बन्ध—जो कुछ अलग चीज है।

हिन्दी लेखन की स्थिति के बारे में पूछना चाहता हूँ। दूसरी भारतीय भाषाओं में जो लिखा जा रहा है और संसार के दूसरे देशों में जो कुछ लिखा जा रहा है उस की तुलना में हिन्दी की क्या स्थिति है, विशेष रूप से प्रेमचन्द के बाद और स्वातन्त्र्योत्तर युग में?

पहले तो यह बताइए कि 'स्वातन्त्र्योत्तर' युग क्या होता है? मैं तो स्वातन्त्र्य के युग में जीता हूँ। आप उस में नहीं हैं तो—तो मेरी आप के साथ हमदर्दी है। 'स्वातन्त्र्योत्तर' की बात करना स्वातन्त्र्य को बीते युग का एक पन्ना बना देता है। मेरे ख्याल में यह उस से बुनियादी तौर पर गलत सम्बन्ध है।

दूसरी भारतीय भाषाओं में या विदेशों में हिन्दी लेखन की तुलना

की जा सकती है। जहाँ तक भारतीय भाषाओं का सवाल है, मैं समझता हूँ कि हिन्दी का कृतित्व काफी ऊँचा पाया जायेगा। यह भी कहा जा सकता है कि अलग-अलग भाषाओं ने अलग-अलग विधाओं में विशेष प्रवृत्ति दिखायी है या विशेष अवदान दिया है। स्वतन्त्रता के युग में हिन्दी में काव्य के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई है और कहानी के क्षेत्र में भी, आलोचना या विचार-साहित्य में उतनी नहीं हुई। मराठी की प्रवृत्ति आलोचना और विचार-साहित्य में विशेष रही है लेकिन काव्य में हिन्दी से उस की तुलना नहीं हो सकती। इसी तरह दूसरी भाषाओं में भी है। कुल मिला कर कह सकते हैं कि हिन्दी की उपलब्धि असन्तोषजनक नहीं है—या यह अलग बात है कि साहित्य सर्जक हमेशा अपने समय के साहित्यिक उत्पादन से असन्तुष्ट रहता है।

जहाँ तक दूसरे देशों का सवाल है, मैं हिन्दी के लिए कोई बड़े दावे नहीं करूँगा। लेकिन काव्य के क्षेत्र में जरूर हिन्दी में ऐसा सर्जन हुआ है जिसे संसार के सामने आना चाहिए। मैं किसी एक लेखक की बात नहीं सोच रहा हूँ। समूचे काव्य-कृतित्व की बात सोच रहा हूँ। और यह बड़े खेद की बात है कि हिन्दी से इतने कम अनुवाद हुए हैं।

> **आज़ादी मिलने के समय हिन्दी से सम्बद्ध बहुत-से लोगों को सरकारी स्तर पर प्रोत्साहन और संरक्षण मिला था। एक समय था जब कलकत्ता हिन्दी रचना का प्रमुख केन्द्र था, फिर हिन्दी की धुरी वहाँ से हट कर इलाहाबाद आयी और फिर दिल्ली—अब वह दिल्ली में ही टिकी है। पता नहीं आप सहमत होंगे कि नहीं, लेकिन ऐसा लगता है कि इस सरकारी संरक्षण से हिन्दी के और दूसरी भारतीय भाषाओं के विकास को काफी नुकसान पहुँचा है। आप इस बारे में कुछ कहना चाहेंगे?**

दो प्रक्रियाएँ हैं जिन्हें अलग कर के देखना उपयोगी होगा। कलकत्ता जब हिन्दी का मुख्य केन्द्र था तब वह भारतीय राष्ट्रीयता का भी मुख्य केन्द्र था उस समय की दोनों प्रवृत्तियों में घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह हिन्दी के लिए शुभ था कि उस एक सम्भाव्य राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दीतर भाषा भाषियों ने ही प्रस्तावित किया। यह आन्दोलन बंगाल से शुरू हुआ कलकत्ता तब भारतीय राष्ट्रीयता का केन्द्र था जैसा मैंने अभी कहा, और वह ब्रिटिश भारत की पहली राजधानी भी था।

फिर आन्दोलन का केन्द्र अंशतः बम्बई चला गया जो दूसरा महानगर या अन्तर्राष्ट्रीय नगर था—जिस का सम्पर्क पश्चिम से अधिक था और जो पश्चिम की चुनौतियों के प्रति सब में अधिक सजग था जिस में

राष्ट्रीय दृष्टिकोण सब से अधिक विकसित था। तब राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिंदी आंदोलन के भी दो मुख्य केंद्र हो गये—कलकत्ता और बम्बई। भारत के स्वाधीन हो जाने पर ही तीसरा और नया केंद्र सामने आया—अर्थात् स्वाधीन भारत की राजधानी नयी दिल्ली।

एक प्रक्रिया राजधानी के विकास के साथ सर्वत्र लक्षित होती है। सारे सांस्कृतिक क्रिया-कलाप पहले एक केंद्र की ओर आकृष्ट होते हैं और यह केंद्र राष्ट्र की राजधानी होता है। अपवाद भी होते हैं, जैसे वाशिंगटन की तुलना में न्यूयार्क, लेकिन साधारणतया राष्ट्रीय राजनगरी सांस्कृतिक राजनगरी भी होती है और सब कुछ सहज ही वहां केंद्रित होने लगता है। यही प्रक्रिया यहां भी हुई लेखक भी दिल्ली आ बसे, प्रकाशक भी दिल्ली आ बसे, और उसी तरह और भी

लेकिन यह केवल एक प्रक्रिया है जो राष्ट्रीय राजधानी के विकास के साथ अनिवार्यतया होती है। दिल्ली अभी उस अर्थ में महानगर नहीं है जिस अर्थ में कलकत्ता और बम्बई महानगरीय केंद्र थे। दिल्ली एकाएक एक विराट् नौकरशाही गांव के रूप में फैल गयी और एक शहर के रूप में अब धीरे धीरे विकसित हो रही है। जब वह सच्चे अर्थ में एक वास्तविक नगर और राजधानी बन जायेगी तब वह राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन की मुकुर मी भी दीखेगी—अभी यह स्थिति नहीं है जिस का एक कारण तरह-तरह के राजनीतिक दबाव भी हैं। अभी तक दिल्ली कई एक भारतीय संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करने की कोशिश कर रही है जो सभी एक-दूसरे के बराबर हैं—किसी एक राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व वह नहीं करती।

जहाँ तक सरकारी संरक्षण का सवाल है, जब आज़ादी मिली तब कई राष्ट्रीय नेताओं की सच्ची इच्छा थी कि साहित्य और कला के लिए ऐसी सुविधाएं उपलब्ध की जायें जो पहले सुलभ नहीं थीं, लेकिन संरक्षण दोधारा अस्त्र होता है और हम धीरे धीरे समझने लगे हैं कि राजकीय संरक्षण से कलाओं को क्या खतरे हो सकते हैं। कुछ कलाएँ अथवा कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिन को संरक्षण की अधिक आवश्यकता होती है। मैं नहीं समझता कि साहित्य उन में से एक है। साहित्य को कुल मिला कर राजकीय संरक्षण से हानि ही हुई है क्या कि राजकीय संरक्षण धीरे धीरे राजनीतिक दलों का हस्तक्षेप बन गया है।

ऐसा क्यों है कि हिंदीभाषी क्षेत्र में अपनी भाषा का कोई अभिमान नहीं है ? बंगाल या महाराष्ट्र या दक्षिणी प्रदेशों की तुलना में हिंदीभाषी प्रदेशों का उच्च वर्ग अपने घरों में हिंदी का बिल्कुल

उपयोग नहीं करता। कहा जाता है कि सन '४७ से पहले भारत मे अग्रेज का राज था और '४७ के बाद अग्रेजी का राज हो गया। घरो मे अब बच्चे भी अधिकाधिक अग्रेजी बोलते हैं और अधिकतर घरों मे, खास कर समाज के उच्चतर वर्गों मे, हिन्दी की कोई पुस्तकें ही नहीं होती।

उच्च वर्ग की बात तो अभी अलग से करूँगा। लेकिन जब आप बाग्ला भाषी या मराठीभाषी प्रदेश की तुलना म हिन्दीभाषी प्रदेश की बात करते हैं तब आप एक महत्वपूर्ण बात भूल जाते हैं। दूसरे सभी प्रदेश सुगठित एक भाषाभाषी प्रदेश है, उन का समाज एक भाषा का समाज है। दूसरी ओर तथाकथित हिन्दी प्रदेश ऐसा प्रदश है जिस मे हिन्दी के भी कई स्तर हैं। एक हिन्दी वह है जिस के लिए आन्दोलन कलकत्ता से शुरू हुआ था और बम्बई म आगे बढा—वह स्तर जो राष्ट्रीय सम्पर्क भाषा का स्तर है। फिर दूसरा स्तर उस हिन्दी का है जो लोगो के सामान्य जीवन की भाषा है—और जो उस मानक राष्ट्रभाषा से अलग है और कई बोलिया के रूप म व्यवहृत होती है। हिन्दीभाषी प्रदेश म लोग जो भाषा वास्तव म बोलते है उस मे उन का भी वसा ही अभिमान है जैसा बगाली का बाग्ला मे या महाराष्ट्री का मराठी मे, लेकिन यह भाषा उस भाषा से भिन्न है जिस की हम दिल्ली मे बैठ कर (अग्रेजी म) चर्चा करत है या जिसे राष्ट्रीय सन्दभ मे रखते हैं।

यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि इस भाषा के साथ हमारा लगाव बिल्कुल भिन्न प्रकार का हो, बल्कि कह सकते है कि हम प्रयत्न ही इस बात का कर रहे हैं कि जिन भाषाओ के साथ लोगो का लगाव है उन से अलग एक ऐसी भाषा विकसित की जा सके जिस के साथ वैसा लगाव नही है वैसा मघन राग-बन्धन नही है। यानी यह शिकायत एक तरह से अथहीन हो जाती है कि इस सम्पक मुक्त भाषा से हमारा वसा सम्पक नही है। यह तो स्पष्ट ही है कि वैसा नही है। एक ओर वे भाषाएँ हैं जिन के साथ हमारा बडा गहरा रागात्मक सम्बन्ध है दूसरी ओर यह भाषा है जो कि हमारे रागात्मक पूवग्रहो स परे हैं।

९ लेकिन क्या जिस भाषा के साथ रागात्मक सम्बन्ध न हो या एक बहुत बडे समुदाय का सम्बन्ध न हो, वह पनप सकती है ?

यह तो इस पर निभर है कि पनपना आप किसे कहते हैं। हम जिस राष्ट्र भाषा की जरूरत है—यानी सारे देश के लिए एक व्यवहार की, सम्पक की एक भाषा—उस के लिए चाहिए शायद दो हजार शब्दों की बुनियादी शब्दावली, यानी दो हजार शब्दो की बुनियादी भाषा और उस के साथ

एक लम्बी चौड़ी पारिभाषिक शब्दावली। ऐसे दो हज़ार शब्द चुन लेना कोई बहुत कठिन काम नहीं है, बल्कि शायद इस के लिए दो हज़ार भी नहीं सोलह सौ शब्द ही काफ़ी हों। हम ऐसा कर सकते हैं कि ऐसे शब्द चुन कर या आवश्यक हो तो गढ़ कर उस मानक राष्ट्रभाषा का नाम दे दें, उस के साथ एक पारिभाषिक शब्दावली भी प्रकाशित कर दें जो राष्ट्रीय स्तर पर सब के लिए एक हो। इस भाषा का प्रश्न उस भाषा के प्रश्न से बिल्कुल अलग है जिस में हम अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति करते हैं—जिस भाषा में हम जीते हैं। उस भाषा का स्वतन्त्र विकास होगा। अभी जो हो रहा है वह यह है कि इन दो दुनिया के बीच, इन दो प्रकार की भाषाओं के बीच गड़बड़ी फैलायी जा रही है। राजनीतिक का सरोकार केवल उन दो हज़ार या सोलह सौ शब्दों के साथ होना चाहिए लेकिन वह उस के बदले बराबर सर्जनात्मक अभिव्यक्ति की भाषा में टाँग अड़ाता है जो कि उस का अधिकार-क्षेत्र बिल्कुल नहीं है।

आप को भाषा के मामले में एक आत्यंतिकतावादी या पर्फेक्शनिस्ट माना जाता है। क्या आप का ख्याल है कि हिन्दी के लिए भी फ्रेंच अकादमी जैसी कोई संस्था होती तो हिन्दी को लाभ होता? हिन्दी में नये शब्द अधिकतर संस्कृत से ही लाये गये हैं, अगर दूसरी भाषाओं से—फारसी से या अंग्रेज़ी से भी—शब्द ले कर हिन्दी में स्वीकार किये जाते तो क्या उस से लाभ होता?

नहीं—इस तरह की अकादमी के बारे में आप के सवाल का बड़ा स्पष्ट उत्तर है नहीं। हम उस से कोई लाभ न हुआ होता। क्यों कि ऐसा नहीं है कि पहले अकादमी बनती है और फिर अच्छी भाषा पर बल दिया जाता है। पहले एक समाज होता है जो अच्छी भाषा की क़द्र करता है और फिर वह समाज अकादमी बनाता है।

हो सकता है कि मैं पर्फेक्शनिस्ट हूँ। कुछ लोग व्यंग्य से यह बात कहते हैं। उस से मुझे खास क्लेश नहीं होता। और स्तरीयता मैं केवल भाषा में नहीं चाहता। पूरे हिन्दीभाषी समाज में अगर भाषा के प्रति उस तरह का सम्मान का भाव होता तो शायद अकादमी जैसा कोई संस्थान उस का बन गया होता। लेकिन, जैसा आप के ही इस पहले प्रश्न से स्पष्ट था वह स्थिति आज नहीं है, इस लिए उस तरह की अकादमी से कोई लाभ नहीं होगा बल्कि सम्भव है कि वैसी संस्था गलत चीज़ों पर ही ज़ोर दे और इस तरह भला करने की बजाय नुकसान ही अधिक पहुँचाये।

आपने उच्च वर्ग की और भाषा के प्रति उस के रवैये की बात

की थी। जिस को आप उच्च वग या एलीट कहत ह—मुझ जान पडता ह प्रकट या अप्रकट पूवग्रह स हम एलीट या उच्च वग की परिभाषा ही यह करते हैं कि उच्च वग भारतीय समाज का वह अश है जो अपने को अग्रेजी मे अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार आप के प्रश्न मे ही उस का उत्तर हो जाता है। अगर एलीट वह है जा शुरू से ही अग्रेजी माध्यम से शिक्षा दीक्षा पाता है ता यह कोई अचम्भे की बात नही है कि उस म हिन्दी या किसी भारतीय भाषा के लिए कोई लगाव नही पाया जाता।

लेकिन ऐसा भी एक एलीट या उच्च वग है—अगर आप का आशय ऐस लोगो स है जो समाज म सम्मानित हैं—ऐसा एक उच्च वग है जा अपन का अग्रेजी म अभिव्यक्त नही करता, आप पायेंग कि सभी भाषा प्रदेशो मे ऐसे लोग अभी हैं। बल्कि शायद ऐसे लोग बीस वष पहले की अपक्षा अधिक होगे—इस के बावजूद कि इस अवधि म विकृत अग्रेजी का विस्तार काफी बढा है। सवत्र आज ऐसे लोग अधिक है जा अपनी भाषा से सम्पृक्त हैं और उस के लिए चिन्तित है और जिन की यह चिन्ता भी उन की अपनी भाषा म व्यक्त होती है। यानी एक ऐसा भारतीय उच्च वग है जिस की ओर से सरकारी क्षेत्र अभी उदासीन है।

भारतीयो के अग्रेजी मे लिखने के बारे मे आप की क्या राय है? कोई मूलत हिन्दीभाषी हो तो क्या वह सजनात्मक लेखन के लिए अग्रेजी माध्यम चुन सकता है, उस मे अपने को अभिव्यक्त कर सकता है? या कि शब्दो का पूरा भावात्मक अभिप्राय अपनी मातभाषा मे ही समझा जा सकता है?

ऐसा कोई आत्यन्तिक कारण तो नही है कि एक भाषा प्रदेश का लेखक रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए दूसरी भाषा न चुन सके। लेकिन जा भी चुनाव वह करे उस के स्पष्ट और निहित अथ समझ लेना जरूरी है। जाजेफ कानराड जसा व्यक्ति लीजिए—वह पोलिश मूल का था, पर उसन अग्रेजी को चुना और आजीवन अग्रेजी म ही लिखता रहा। पालिश भाषा म उस का सम्पक टूट गया। यह बिल्कुल सम्भव है कि कोई अपनी भाषा के बदले एक विदेशी भाषा चुन और उसी म रचना करे, यदि वह ऐसा करता है तो उस के चुनाव का मूल्याकन हम रचना कम क परिणामो के आधार पर ही करत है। हम यह नही पूछते कि उस ने विदेशी भाषा क्या चुनी यही पूछत हैं कि उस चुनाव के बाद उस न किया क्या। अनन्तर हम इस की पडताल तो कर सकते हैं कि उस का वह चुनाव अनिवाय क्या हो गया था। यह पडताल केवल लेखक की जीवनी की दष्टि से रोचक नही हागी बल्कि और भी बहुत-से पहलुओ का विचार उस म

होगा—जैसे सांस्कृतिक अस्मिता का सवाल, वगैरह। लेकिन हम उस की कृतियों का पहले कृतियाँ के रूप में ही आँकेंगे और भाषा के विकास का सवाल उस के बाद ही उठायेंगे। किसी भारतीय के लिए—अनेक भारतीयों के लिए—अंग्रेज़ी में या फ्रेंच में या स्वाहिली में या बाटू में लिखना बिल्कुल सम्भव है लेकिन अगर वे ऐसा करते हैं तो हम उन की रचनाओं को पढ़ कर उन का गुण दोष विवेचन उन्हीं की प्रतिज्ञाओं के अनुसार करेंगे, यह प्रश्न बाद में ही उठायेंगे कि उन का उस भाषा का चुनाव कहाँ तक उचित हुआ।

मेरा ख्याल है कि एक और पहलू भी हमें हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। लेखक कोई भी भाषा चुने, एक बार चुनाव कर लेने पर उस की वही एक भाषा रचनात्मक अभिव्यक्ति की भाषा होगी। इधर के वर्षों में इने गिने लेखक ऐसे हुए हैं जो सच्चे अर्थ में द्विभाषी हैं—नोबोकोव अथवा बेकेट जैसे लेखक—अच्छे और महत्त्वपूर्ण लेखक, लेकिन महान लेखक शायद नहीं। महान लेखक रचना की दृष्टि से एक भाषी लेखक ही रहे हैं।

आपने अपनी कई एक रचनाओं का अंग्रेज़ी अनुवाद किया है। आप क्या ऐसा नहीं सोचते कि हिन्दी से दूसरी भारतीय भाषाओं में, अंग्रेज़ी में और फ्रेंच जैसी अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में अनुवाद के लिए कोई सुसंगठित व्यवस्था होनी चाहिए?

आप सोचिए, मेरी रचना के अंग्रेज़ी या किसी दूसरी विदेशी भाषा में अनुवाद के लिए मैंने चालीस वर्ष से अधिक तो प्रतीक्षा की—उस के बाद ही स्वयं वह काम उठाया। इन चालीस वर्षों में मैंने दूसरे लेखकों के अनुवाद तो किये, अपनी रचना का अनुवाद करना कभी अच्छा नहीं लगा। यह केवल परिश्रम की बात नहीं थी। मुझे यह भी अखरता था कि अनुवाद कार्य में मैं वह समय लगा रहा हूँ जो रचना कार्य के लिए लगा सकता। बल्कि अपने अनुवाद का काम मैंने ऐसी ही अवधि में किया जब रचनात्मक लेखन के लिए अधिक समय मैं न पा सकता। तब मैं एक दैनिक पत्र का सम्पादक था और इस लिए साहित्य सर्जना में ध्यान केन्द्रित करने के लिए न आवश्यक समय पा सकता था न अपेक्षित एकान्त। इस लिए मैंने यही निश्चय किया कि रोज़ दो घंटे अनुवाद का ही काम करूँगा और एक शीघ्रलिपिक सहायक के साथ वही करता रहा। दो वर्षों के बाद मैंने पाया कि एक पूरी पुस्तक बल्कि दो पुस्तकें, अनुवाद में तैयार हो गयी हैं। मैं नहीं समझता कि किसी दूसरी परिस्थिति में मैंने स्वेच्छा से यह काम किया होता—यानी अपना समय रचना-कर्म में

लगाने की सुविधा होती तो।

मेरे अपने अनुवाद या संयोगवश ही हो गये। अनुवाद अच्छे हैं या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, काम चलाऊ जरूर हैं। यह तो है ही कि मूल के साथ जो मनमानी मैं कर सकता था वह कोई निष्ठावान अनुवादक केवल अनुवादक होने के कारण न कर सकता।

यह तो मैं निश्चय ही चाहता हूँ कि हिन्दी से कहीं अधिक अनुवाद हों—अंग्रेजी में, दूसरी भारतीय भाषाओं में, अन्य विदेशी भाषाओं में भी। अनुवाद काम में मैं इस बात को बहुत महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि अनुवादक ग्रहण करने वाली भाषा का मूल भाषी होना चाहिए—या मूल भाषी नहीं तो ग्रहण करने वाली भाषा में उसे पूरी तरह निष्णात होना चाहिए। जिस भाषा से वह अनुवाद करे उस भाषा का ज्ञान और सही समझ तो उसे होनी चाहिए, लेकिन वह समझ उस कोटि की नहीं भी हो सकती है जो ग्रहण करने वाली भाषा के लिए अनिवार्य होगी—उस भाषा के मुहावरे और व्यंजना की समझ, शब्दों के संस्कार सांस्कृतिक सन्दर्भों की गूंज-अनुगूंज की समझ, उन के संस्कार का ज्ञान, इत्यादि।

भारत में हमारे पास ऐसे लोगों की कमी है यद्यपि हम यह मान लेते हैं कि भारत ने अंग्रेज़ी को पूरी तरह अंगीकार कर लिया है। ऐसे बहुत से लोग हैं जिन की शिक्षा-दीक्षा अंग्रेज़ी में और अंग्रेज़ी के द्वारा हुई है। असल में होता यह है कि जहां ऐसे लोग होते हैं जिन का अंग्रेजी का ज्ञान इतना होता है कि वे अंग्रेजी में अनुवाद कर सकें, वे इसी दौरान उस भाषा से सम्पर्क गँवा चुके होते हैं जिस से वे अनुवाद करना चाह सकते। जरूरत इस बात की है कि ऐसे लोग हों जिन का अंग्रेजी का ज्ञान इतना अच्छा हो और जो साथ ही भारतीय भाषा के साथ सम्पर्क बनाये हुए हों, उस में पठ सकें। ऐसे लोगों की हमारे पास कमी है और यह दुःख की बात है।

> मैं हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय पद की बात फिर उठाना चाहता हूँ—यानी हिन्दी में रचित और प्रकाशित साहित्यिक कृति के आधार पर। क्या आप सोचते हैं कि ऐसी किसी रचना पर नोबेल पुरस्कार *अथवा किसी दूसरे बड़े अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार के लिए विचार हो* सकने की समुचित सम्भावना है? या कि सम्भावना इस लिए कम है कि उस की पहुँच अंग्रेज़ी या फ्रेंच की तुलना में कम होगी, उस का पाठक समाज छोटा होगा?

अगर सम्भावना कम है तो इस में नुकसान पुरस्कार का है।

यों आप देखिए कि फिनी अथवा आइसलैंडी भाषा के साहित्य के

लिए भी पुरस्कार दिये जा चुके हैं—और इन भाषाओं की पाठक-संख्या किसी भी भारतीय भाषा की पाठक संख्या से कम है। यह साहित्य स्कैंडिनेवियाई भाषा परिवार की एक भाषा में था, इस लिए जाना गया। यदि ऐसा हो सकता है तो कोई आत्यंतिक कारण तो नहीं है कि दूसरी भाषाओं की रचना तक पहुंच न हो सके। मैं समझता हूँ कि कुछ ऐसा प्रयत्न हो भी रहा है कि अंग्रेज़ी फ्रेंच, हस्पानी, जर्मन, रूसी और स्कैंडिनेवियाई भाषाओं के संसार के बाहर की भाषाओं में रचे गये साहित्य तक भी पहुँचा जा सके। निश्चय ही इस में काफी समय लगेगा क्या कि अनुवाद नहीं मिलते। अनुवादक बड़ी कठिनाई से मिलते हैं फिर भी कोई आत्यन्तिक कारण तो नहीं है कि भारतीय भाषाओं में रचा गया साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक न पहुँच सके।

क्या आप इस बात से सहमत होंगे कि आलोचनात्मक लेखन बहुत कम हो रहा है? मेरा मतलब है—हम लोगों ने अनुवाद की बात की—उस क्षेत्र में माना जा सकता है कि बहुत कुछ अभी करने को है, लेकिन हिन्दी की उन्नति के लिए एक और क्षेत्र में भी तो काम करना जरूरी है हिन्दी रचनाओं की अच्छी समालोचना भी तो होनी चाहिए, और ऐसा लेखन भी बहुत कम है। इसे क्या आप आवश्यक मानते हैं या कि केवल वास्तविक समस्या का एक परिणाम समझते हैं?

सामान्यतया तो मैं मानता हूँ कि समालोचना की कमी है। आलोचना में भी दो तरह का लेखन जरूरी होता है इन में से एक तो द्वितीयक परिणामगत होता है—वह सर्जनात्मक साहित्य का अनुवर्ती होता है। लेकिन ऐसा आलोचनात्मक लेखन भी होता है जो द्वितीयक या उपपन्न नहीं होता। किसी भी भाषा में ऐसा आलोचनात्मक चिन्तन होता है जो साहित्य-सर्जन पर निर्भर नहीं है उस का उपजीवी नहीं है बल्कि उस का समान्तर है—स्वतन्त्र विवेचनात्मक कर्म है।

उदाहरण के लिए मैं पूछूं—अगर आप से यही बात-चीत हिन्दी में होती तो क्या यह उतने ही लोगों तक पहुँच सकती—ऐसे लोगों तक जिन में उस से लाभ उठाने के लायक संवेदनशीलता है?

मैं पूरे निश्चय से कह सकता हूँ कि वह कहीं अधिक लोगों तक पहुँच सकी होती। और जहाँ तक उस में लाभ होने की बात है अगर आपने प्रश्न ही इस अंग्रेज़ीभाषी समाज को ध्यान में रख कर बनाये हैं तो सम्भव है कि उन लोगों को इस बात-चीत से अधिक लाभ इसलिए हो कि भारतीय भाषाओं के साहित्य के बारे में उन का अज्ञान शायद अधिक होगा। मैं

समझता हूँ कि भारतीय भाषाओं का सामान्य प्रबुद्ध पाठक शायद मेरे दिये हुए उत्तरों को पहले से जानता होगा, उस अर्थ में उसे इस बातचीत से अपेक्षया कम लाभ होगा। लेकिन इस में मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह अंग्रेज़ी की अपेक्षा हिन्दी में कहीं अधिक पढ़ा और समझा और पसन्द किया जायेगा।

एक उच्चवर्गीय 'एलीट' की बात पहले भी हुई। 'एलीट' की मेरी परिभाषा यों है : कुछ लोगों को जन्म की परिस्थितियों के कारण कुछ सुविधाएँ मिलती हैं, फिर लगातार अवसर मिलते रहते हैं, और इन कारणों से उन की स्थिति ऐसी बन जाती है कि वे समाज को अधिक प्रभावित कर सकते हैं। जिन मूल्यों को समाज मानता है और जैसा कर्म वह समाज कर सकता है उस का रूप वे निर्धारित कर सकते हैं। मेरा सवाल यह है कि क्या ऐसे लोगों को हिन्दी के द्वारा प्रभावित किया जा सकता है ? क्यों कि मेरी परिभाषा के इस 'एलीट' या अभिजात वर्ग के लोग अधिकतर हिन्दी नहीं पढ़ते ?

अगर मैं आप का कथन मान भी लूँ—जो मैं नहीं मानता—तो अंग्रेज़ी में जो उपलब्ध है उस तक पहुँचने वाला की संख्या हमारी जनसंख्या का अधिक से अधिक दो प्रतिशत होगी। जो वास्तव में पढ़ सकते होंगे उन की संख्या एक प्रतिशत ही होगी, और जो उस तरह की बातें पढ़ते होंगे जो हम कर रहे हैं उन की संख्या तो एक प्रतिशत का भी एक अंश ही होगी। इन पर कुछ प्रभाव पड़े तो उस प्रभाव के जन-साधारण तक पहुँचने में सौ वर्ष लगेंगे—और उन सौ वर्षों में वह सब फालतू हो चुका होगा। आप की परिभाषा मैं मान भी लूँ तो यह स्पष्ट है कि हिन्दी के माध्यम से प्रभाव कहीं अधिक गहरा और दूरव्यापी होगा।

आपने ज्ञानपीठ पुरस्कार से मिली हुई रकम में उतनी ही रकम अपनी रायल्टी की आय से जोड़ कर एक न्यास की स्थापना की है। इस न्यास के उद्देश्यों और नीतियों के बारे में कुछ कहना चाहेंगे ? उस के द्वारा क्या आप कोई विशेष लक्ष्य पूरा करना चाहते हैं या साहित्य को कोई विशेष दिशा देना चाहते है ?

न्यास के लक्ष्य और उद्देश्य तो न्यासपत्र में दिये हुए हैं जो कि एक सार्वजनिक दस्तावेज़ है। हाँ एक बात ज़रूर है जो उस में दर्ज नहीं है—उस में सम्मिलित हो भी नहीं सकती थी—और उसे शायद मेरी असली प्रेरणा कहा जा सकता है।

मैं चाहता हूँ कि भारतीय लेखक—भारतीय कलाकार—जहाँ

तक हो सके राजकीय संरक्षण से स्वतन्त्र और आत्म निर्भर रहे वह जो करना चाहता है और उस के लिए उस की जो आवश्यकताएँ हैं उन के लिए वह शासन पर कम से कम निर्भर करे। मैं चाहता हूँ कि लेखक समाज, कलाकार समाज में बिरादरी का, सामाजिकता का भाव अधिक प्रबल हो। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि भारत में और विशेषतया स्वाधीन भारत में लेखक धीरे-धीरे अधिक परमुखापेक्षी हो गये हैं और हर बात में सरकार का मुंह जोहने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी है। इस निर्भरता के कारण ऐसी जिम्मेदारियाँ भी, जिन का वहन लेखक या कलाकार समाज को स्वयं करना चाहिए धीरे धीरे सरकार को सौंप दी जा रही हैं। न्यास की स्थापना करते समय मेरे मन में एक आशा यह थी कि उस के कार्यों से शायद आत्म निर्भरता की भावना को फिर कुछ चेताया जा सके। यह तो शायद सच है कि कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिन में सरकारी सहायता की आवश्यकता रहेगी, लेकिन वहां भी यह सम्भव होना चाहिए कि ऐसी परिस्थिति लायी जा सके जिस में सहायता लेखकों कलाकारों की शर्तों पर ही मिल सके, सरकार की शर्तों पर नहीं, जैसे कि अब होता है।

न्यास की स्थापना करते समय मेरे मन में गहराई में ऐसा ही कुछ विचार था।

न्यास के काम की बात। हमने अभी तक दो व्याख्यान मालाएँ स्थापित की हैं जिन के द्वारा हम एक भारतीय अस्मिता की खोज और स्थापना का प्रयत्न कर सकें, साहित्य और कलाओं में रुचि और विवेक का स्तर उठाने में योग दे सकें। फिर न्यास की ओर से लेखक शिविर भी आयोजित होते हैं जिन में एक ओर नयी प्रतिभाओं और दूसरी ओर परिपक्व अनुभव को मिलाने का यत्न होता है दोनों वर्गों के साहित्यकार मिलते हैं और कुछ समय तक—हफ्ते दस दिन तक—साथ रहते हैं एक-दूसरे की रचनाएँ सुनते हैं और उन पर विचार करते हैं। साहित्यकार की रुचि के अथवा साहित्य-कर्म के लिए उपयोगी और आवश्यक किसी भी विषय पर खुला विचार विनिमय करते हैं। इस की भी सुविधा रहती है कि युवतर लेखक अपनी रचनाओं और अपनी समस्याओं पर अनुभवी साहित्यकारों से अलग निजी चर्चा कर सकें।

शिविरों में कुछ परचे भी पढ़े जाते हैं। प्रत्येक शिविर के लिए हम एक सामान्य विषय भी चुन लेते हैं जिस का विस्तार से विवेचन होना है। योजना इन परचों और विवेचना को सम्पादित करके प्रकाशित करने की है ऐसा प्रकाशन केवल शिविर की रपट नहीं होगी बल्कि विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करेगा जो लेखकों की अगली पीढ़ी के

काम आ सके। पहले शिविर की पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है और तीसरे की इस समय छप रही है, जल्दी ही आ जानी चाहिए। दूसरे शिविर की पुस्तक तयार हाने म कुछ देर हुई, लेकिन वह भी अब प्राय तयार है। इसी तरह अय शिविरो के साथ भी होता रहेगा।

इस वष से हम एक नयी योजना भी शुरू करन की आशा रखते हैं—अनुवादो की एक पुस्तक-माला के प्रकाशन की। य अनुवाद विश्व के *श्रेष्ठ काव्य साहित्य के अनुवाद होंगे और यथासम्भव मूल भाषा से हिन्दी* मे किय गये होंगे। हम यत्न करेंगे कि अनुवादक भी कवि ही हो।

हमारा यह भी यत्न है कि लेखका की सहायता के लिए एक कोष भी हो। न्यास तो बहुत छोटा-सा है और यह कोष भी छोटा ही होगा। लेकिन आवेदनपत्रो की जरूरत नही होगी, न हाकिमा स तसदीक कराने की। दूसरे भी काम होंगे, लेकिन हम काम उतना ही उठायेंगे जिसे आगे चलाते रह सकें।

> *कुछ दिन पहले प्रेस मे समाचार था कि आपने अपना पिछला लेखक शिविर बोधगया मे किया। यह भी समाचार था कि आपने तीसरे विश्व हिन्दी सम्मेलन को 'एक बडा सरकस' कहा, यह भी कि पहले दोनो विश्व सम्मेलनो मे आप प्रमुख सयोजकों मे से थे। इन पहले सम्मेलनों के उद्देश्य क्या थे? और प्रेस की रपट के बारे मे आप कुछ कहना चाहेंगे?*

अनिच्छापूवक ही।

किसी भी सम्मलन के सयाजन से मेरा काई सम्बध नही था। पहले सम्मलन मे म पयवेक्षक बन कर गया था—वह भी इस लिए कि उन दिनो मैं एक हिन्दी दैनिक समाचारपत्र का सम्पादक था और उसी नाते आमन्त्रित भी किया गया था। प्रतिनिधि मैं नही था और सगठन-कर्ताओ मे से एक तो कदापि नही था। दूसरा सम्मेलन मारिशस म हुआ था। उस म मैं आमन्त्रित भी नही था, न उस के बारे मे कभी मुझ से सलाह भी ली गयी थी।

तीसरा सम्मेलन दिल्ली म हुआ। आप को याद होगा कि यह वसन्त और ग्रीष्म मे एकाधिक बार स्थगित किया जा कर अन्त मे अक्टूबर '८३ मे हुआ।

हमने जब बोधगया के शिविर की तारीखें निश्चित की तब विश्व हिन्दी सम्मेलन मई के लिए आयोजित था और तारीखा की कोई टकराहट नही थी। उन्होंने जब तारीखें बदल कर अक्टूबर की तारीखें चुनी तब हमने अपनी तिथियाँ न बदलना ही ठीक समझा, इस लिए नही कि

उन से कोई प्रतिद्वन्द्विता थी बल्कि इस लिए कि हमारे साहित्य सर्जना के काम में सम्मेलन की कोई प्रासंगिकता नहीं थी—जैसे कि हमारी उन के लिए कोई प्रासंगिकता नहीं थी। उन का सरोकार राजभाषा में, प्रशासन और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की भाषा से था।

मैं तो विश्व हिन्दी सम्मेलन का कोई उल्लेख ही न किया होता अगर बिहार के एक समाचारपत्र ने सम्पादकीय लिख कर हमारी इस बात के लिए आलोचना न की होती कि जब दिल्ली में विश्व हिन्दी सम्मेलन हो रहा है तो हम गया क्या करने आये हैं। मुझे जान पड़ा कि इस का उत्तर होना चाहिए और मैंने यह स्पष्ट कर दिया कि सम्मेलन से हम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं था। मैंने उसे मेला अवश्य कहा था, सरकस नहीं, और मेला कहने में कोई अवज्ञा भी नहीं है। हिन्दी मेले का संयोजन और संगठन सर्वथा उचित हो सकता है यदि संयोजकों के सामने उद्देश्य स्पष्ट हो। मैंने यह भी कहा था कि सम्मेलन हिन्दी के विद्वानों और अध्यापकों का सम्मेलन है—और अध्यापक सब उच्च स्तर के शिक्षा देने वाले हों ऐसा भी नहीं है—और उन का हिन्दी साहित्य से अथवा साहित्य की भाषा से विशेष प्रयोजन नहीं है। ऐसी स्थिति में यह क्या जरूरी है कि साहित्य-सर्जक वहाँ हाजिरी बजायें? जिन लोगों का भाषा से सरोकार है उन्हें अपना काम करना है, साहित्य-सर्जकों को अपना। ये सब बातें मैंने वहाँ कही थीं। और मैं अब भी समझता हूँ कि सम्मेलन के प्रति हमारा दृष्टिकोण सही था।

हाँ, एक बात और कहूँ। जो रपट प्रकाशित हुई उसे मेरे साथ वार्त्ता का रूप दिया गया था लेकिन संवाददाता न कभी मुझ से मिला था, न उस से मेरी कोई बात हुई थी। बल्कि वह बोधगया की हमारी किसी भी बैठक में उपस्थित नहीं था—सारी रपट फर्जी थी।

लेकिन जो हो, ऐसा जान पड़ता है कि मैंने जो बात कही थी वे ठीक थीं। काश कि वे गलत साबित हुई होतीं! सचमुच विश्व हिन्दी सम्मेलन बहुत ही अव्यवस्थित था—कोई कारण नहीं था कि ऐसा अव्यवस्थित हुआ होता। और वह बड़ा दिग्भ्रमित सम्मेलन भी था, क्यों कि मानो कोई जानता ही नहीं था कि सम्मेलन आखिर किस लिए बुलाया गया है। अनेक 'अन्तर्राष्ट्रीय' प्रतिनिधियों का भी यह पता नहीं था कि वे क्या करने के लिए आमन्त्रित किये गये हैं।

यों इस में मुझे सन्देह नहीं कि एक अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन कई एक काम कर सकता है। मैं व्यक्तिगत रूप से उस से सम्बद्ध न होऊँ यह अलग बात है। साहित्य सर्जक के नाते वैसे संयोजन-कार्य की दीक्षा

मुझे नहीं मिली, दूसरी ओर एक अन्य प्रकार के काम की शिक्षा दीक्षा मुझे मिली है और वह काम मैं कर भी रहा हूँ। हिंदी सम्मेलन से मेरा कोई विरोध नहीं है न होगा, लेकिन मेल में मेरी व्यक्तिगत रुचि नहीं है। और अव्यवस्था मुझे नापसन्द है। और चिन्तन के क्षेत्र में दिशाहीनता तो मुझे और भी बुरी लगती है।

कलाकार लोग मताग्रही भी होते हैं और संवेदनशील भी, क्या ऐसे लोगों को राजनीतिक विचार रखने चाहिए या राजनीति में हिस्सा लेना चाहिए? क्या उन्हें राजनीतिक मतवाद की किसी धारा से भी सम्बद्ध होना चाहिए? इस का उन के रचना कर्म पर कैसा प्रभाव पड़ता है?

पहली बात तो यह कि कोई कलाकार कला सर्जक होने के नाते ऐसा नहीं है कि नागरिक नहीं रहता। कला-सर्जक वह अपनी स्वेच्छा से है, नागरिक वह अपनी स्थिति की अनिवार्यता के कारण है। और नागरिक है तो राजनीति से उस का सरोकार है ही।

दूसरे आज दुनिया का जैसा विकास हो रहा है उस में हमारे जीवन के पहले से कहीं अधिक क्षेत्रों में राजनीति का दखल बढ़ता जा रहा है। राजनीति कहीं अधिक व्यापक रूप लेती जा रही है इस लिए हम राजनीति के प्रति उदासीन नहीं रह सकते और उदासीनता की मुद्रा भी अपने आप में एक राजनीतिक कर्म हो जाती है। मैं राजनीति से असम्पृक्त या उदासीन नहीं हूँ और नहीं मानता कि वैसा होना चाहिए।

लेकिन सक्रिय राजनीति की बात दूसरी है। मैं समझता हूँ कि कम से कम मेरे काम में इस से बाधा होगी कि मैं दैनन्दिन राजनीतिक कर्म में सक्रिय रूप से उलझ जाऊँ, जैसे मैं यह भी मान लेने को तैयार हूँ कि राजनीतिक वर्ग के लोग साहित्य रचना से बहुत गहराई से जुड़ेंगे तो उन की राजनीति का भी नुकसान होगा। एक समय था जब बहुत-से राजनीतिक लोग साहित्य रचना भी करते थे लेकिन अन्ततोगत्वा उन्हें दोनों के बीच चुनाव करना पड़ा और उन्होंने धीरे धीरे साहित्य से हाथ खींच लिया, पूरी तरह राजनीति में लग गये। कुछ साहित्यकार भी ऐसे रहे जिन की राजनीति के क्षेत्र में महत्त्वाकांक्षाएँ रहीं और उन्हें भी दोनों के बीच चुनाव करना पड़ा—एक चीज छोड़नी पड़ी।

निःसन्देह ऐसे भूतपूर्व साहित्यकारों में, जो राजनीतिक बन गये हैं साहित्य की कुछ समझ बनी रह सकती है—उन का राजनीतिक जीवन पूरा होने के बाद भी बची रह सकती है। साहित्यकार के प्रति उन की सहानुभूति भी हो सकती है और हो तो अच्छा ही है। लेकिन आज शायद

ही कोई राजनीतिक होगा जिस की साहित्य म तनिक भी पैठ हो। कुछ समय पहले ऐसे लाग अधिक थ। नयी स्थिति का कारण शायद यह है कि राजनीति आज पहले से ज्यादा 'पेशेवर' कम हो गयी है। साहित्य रचना म भी ऐसा हुआ है, लेखन भी आज अधिकाधिक प्रतियोगी काम होता जा रहा है।

अपने हर कम म एक राजनीतिक इकाई बन रहन पर भी साहित्यकार के लिए यह सम्भव है कि दैनंदिन राजनीति से और वैसी राजनीति स बनने वाले जीवन स अपने को खीच कर अलग कर ले। अवश्य ही यह भी एक राजनीतिक फैसला होगा राजनीतिक कम होगा और इस का असर व्यक्ति के आसपास के राजनीतिक जीवन पर पडेगा और पडता रहेगा। इस अथ मे मैं कहूँ कि यही ठीक है कि साहित्यकार अपने काम पर अपने को केंद्रित करे और अपने आस पास की राजनीति पर उस का प्रभाव पडन दे जो वह है। यानी उस का प्रभाव दैनंदिन राजनीतिक कम मे उस की सीधे सीधे भागीदारी का नही बल्कि उस से उस की स्वाधीनता का प्रभाव हो।

आप की कुछ पहले कही गयी एक बात की ओर लौटना चाहता हूँ। आपने कहा कि हम वही बन सकते हैं जो कि हम हैं। क्या इस का यह मतलब हुआ कि हम सिर्फ एक सम्भावना के साथ आरम्भ करते हैं और हमारे पास वही एकमात्र सम्भावना बनी रहती है? क्या ऐसा नहा होता कि जीवन मे आगे बढते हुए नयी सम्भावनाएँ भी पैदा होती जाती हैं?

इस तरह के प्रश्नो से हम बाल की खाल उतारने की स्थिति मे ही पहुँचते है। मैं बिलकुल मान लेता हूँ कि मनुष्य एक अपूर्वानुमेय प्राणी है कि उस की सम्भावनाएँ जितनी वह जानता है उस से कही अधिक है लेकिन यह कह कर भी मैं अपनी बात का खडन नही कर रहा हूँ क्यो कि फिर भी यह कहा जा सकता है कि सम्भावनाओ का विकास भी इस से निर्धारित होता चलता है कि हम कहा स आरम्भ करते है। व्यक्ति की सहज और सहजात अहताएँ है परिवेश द्वारा लायी गयी या पैदा की गयी अपूवसम्भावित घटनाएँ है। फिर एक तरफ किसी एक समय म समग्र मानव जाति की सीमाओ और सम्भावनाओ के और दूसरी ओर उसी समय म किसी एक मानवीय इकाई की सीमाओ और सम्भावनाओ के बीच का अन्तर भी ध्यान म रखना है। यदि एक इकाई म कोई विकास या परिवतन होना है तो उस की सम्भावना उस म थी—यानी वह जो था वह बन गया है। इतना ही है कि उस समय वह नही जानता है कि वह

गया है—न ही हम जानते थ।

एक अंतिम प्रश्न और पूछ लू। आप के रचनात्मक जीवन की अवधि काफी लम्बी रही—पूरे युग की रचनाओ को ओर देख कर आप को कसा लगता है ?

मैं इस बारे म अधिक नही सोचता—शायद प्रत्यवलोकन करते रहन का मेरा स्वभाव नही है। नये सस्करण के लिए कोई पुरानी पुस्तक तैयार करनी पडती है तभी उस की पुन समीक्षा करता हूँ, नही तो रचना हो जाती है और पीछे छूट जाती है बस। लिख डाला और उस से मुक्ति हो गयी—उस के बाद रचनाओ का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और उन्हे अपन पाठको के बीच जीना और अपने को प्रमाणित करना है।

कभी-कभी—बडे दुलभ अवसरो पर कभी कभी—जरूर ऐसा होता है कि अपनी कोई पुरानी कविता या छन्द या पक्ति पढ कर उस के अपन होन की पहचान के साथ साथ एक स्फूर्ति का अनुभव भी होता है पढन मे वह अच्छी लगती है और यह विचार सुखद होता है कि 'यह मेरी ही लिखी हुई है' और वह भी इतन समय पहले। अधिक सम्भावना तो इसी की रहती है कि पुरानी कोई रचना पढ कर इच्छा हो कि किसी तरह उस मिटा दिया जा सकता! कुछ कहानिया और कविताएँ तो इतनी भावुकता भरी जान पडती हैं कि कही मुह छिपान को मन करता है। कुछ कहानियो म क्रान्ति कर डालन की बचकाना आशावादिता भी है। उस मे लज्जित होने की कोई बात नही है, यह उचित ही है कि नौजवानो मे आदर्शवादी मनोवृत्ति हो, बल्कि दुख की बात तो यह है कि आज की नौजवान पीढी इतनी निरादश और अतीत के बारे मे ऊब और अश्रद्धा से भरी हुई है।

मैं क्रान्तिकारी के विश्वासो की बात नही कर रहा हूँ, रचनाओ म कलात्मक नियन्त्रण की कमी की बात कर रहा हूँ। जहाँ तक क्रान्तिकारी विश्वासो की बात है, मैं अब भी परिस्थितियो का और सस्थान का विरोधी हूँ और मैं समझता हूँ कि यह साहित्यकार के 'रोल' का एक अग है कि वह स्थायी रूप से 'असतुष्ट' हो—कि जो जसा है उस के बारे म लगातार एक प्रश्नाकुल भाव जगाता रहे।

बाकी अपने अतीत म पश्चाताप के लिए बहुत कुछ है, लेकिन

एक तरह का पश्चाताप मुझे नहीं है—बल्कि मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि मैंने लेखन कर्म चुना। यह मेरे लिए गौरव की बात है कि मैं लेखक बना और इस अपने युग में लेखक बना।*

---

* मूल प्रश्नोत्तर अंग्रेजी में दिल्ली में हुए और दो बैठकों में सम्पन्न हुए—दिल्ली अक्टूबर १९८३

साहित्य की चिन्ता

रमेशचन्द्र शाह के साथ सवाद

शाह — 'चौथा सप्तक' की भूमिका मे आपने कवि के लिए एक 'मास्क' अथवा 'पर्सोना' की जरूरत पर बल दिया है, बल्कि सच्चाई को प्रस्तुत करने के लिए उसे (मुखौटे को) अनिवार्य माना है। जहा तक मेरी जानकारी है, यह आग्रह इस तरह आप के पहले के काव्य चिन्तन मे नहीं मिलता। तो समसामयिक रचना से आप के असंतोष का यह कौन-सा आधार था स्पष्ट करें जिस से इस पर ज्यादा बल देने की या इस रूप मे बल देने की जरूरत पडी ?

अज्ञेय — मैं समझता हूँ कि एक तो काव्य के बारे म जो चिन्तन हुआ उस का सहज विकास था यह। यह बात यहा तक ले जा कर मन नही कही पर क्रम यहाँ तक पहुँचती है यह तो पहले जो कुछ कहा है उस पर विचार करने म स्पष्ट हो जायगा। छायावाद के बारे म मेरी जो धारणा थी उस म यही बात मैंने कही थी कि उस से पहले का गुप्त जी के समय तक का काव्य एक विशेष अर्थ म निर्वैयक्तिक था और उस म व्यक्ति के स्वर के लिए, कवि के व्यक्तित्व के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं थी। छायावाद के कवियो ने पहले पहल कविता म कवि के व्यक्तित्व के लिए जगह बनायी। उन की कविता म कवि की आत्मा भी व्यक्त हो सकती है जब कि उस से पहले यही था कि कवि का जहा तक हो सके अदृश्य किया जाये और कविता म रीति बोले या कथा वस्तु अगर हो तो वह बोले—कवि भरसक उस मे न प्रकट हो। पन्त जी ने तो इसी लिए स्पष्ट शब्दो म इस बात की शिकायत की थी कि 'कविता के लिए उस से पहले भाषा ही कहा थी ?' उन का आशय यह नही था कि पहले कविता नही थी, लेकिन जिस तरह की कविता वह कहना चाहते थे जिस म कवि का व्यक्तित्व बोले, उस के भाव भी व्यक्ति की भावनाओ के रूप म ही प्रकट हो सके उस के लिए भाषा नही रही थी। भाषा का संस्कार ऐसा हो गया था कि उस तरह की बात कुछ अटपटी या अनकहनी लगती थी। उन्होंने भाषा म व्यक्ति के स्वर के लिए जगह बना दी और वही उस का सहज स्वर हो गया—इस हद तक कि यह प्रश्न उठने लगा कि इस म 'मैं' कुछ जरूरत से ज्यादा बोलता है। कविता को जो कुछ छायावाद से मिल गया था उस को छोडे बिना अगर फिर म ऐसी सम्भावना बनानी है कि इस 'मैं' म बडा और भिन्न भी कुछ बोल सके, तो क्या उपाय करना होगा ? कवि न केवल स्वय

'सब्जेक्टिविटी', उस के अपने व्यक्तित्व की बहुत महत्त्व है... तो 'मास्क' की अवधारणा से उस की यह बात नहीं कटती, जब कि एलियट का स्पष्टतया निर्वैयक्तिक आदर्श है। तो मैं यह जानना चाह रहा था कि जब आपने आज के कवियों की रचना को देखते हुए और उन के प्रति एक आलोचनात्मक रवैया अख्तियार करते हुए उन की कविता से या उन के रचना दर्शन से असंतोष अनुभव करते हुए अब इस प्रतिमान को सुझाया तो इस में किस तरह की मुक्ति या किस तरह से बदलाव की क्या उम्मीदें, क्या अपेक्षाएँ आप की थीं—कि रचना इस तरफ जानी चाहिए।

देखिए आपने जो नाम लिए दोनों ही अपनी-अपनी जगह ठीक हैं दोनों उपयोगी भी हो सकते हैं। अगर आप का आग्रह ऐतिहासिक वस्तु पर है या आप की दृष्टि इतिहास को महत्त्व देती है—जैसा कि मैं समझता हूँ कि एलियट ने किया—तो आप वस्तु जगत् में ऐसा सम्बन्धकारक खोजते हैं जो कि आब्जेक्टिव कोरिलेटिव है, उस के निमित्त से आप अपने ऐतिहासिक रूप को सामने लाते हैं, ऐतिहासिक निर्वैयक्तिक रूप को। इस लिए आप का वस्तु जगत में ऐसे सम्बन्धों की खोज उपयोगी जान पड़ती है आवश्यक भी जान पड़ती है, उस के माध्यम से आप अपनी बात कहते हैं। दूसरी तरफ जहाँ तक दृष्टि में संस्कृति पर ज्यादा जोर है—ऐतिहासिक अस्मिता पर नहीं सांस्कृतिक अस्मिता पर—वहाँ उस आब्जेक्टिव या कि वस्तुगत कोरिलेटिव का महत्त्व नहीं है, वहाँ पर मास्क ज्यादा उपयोगी है। क्यों कि सांस्कृतिक वस्तु तो बाहरी होती ही नहीं, वह आभ्यन्तर ही रहती है इस लिए वह तो चेहरा मांगती है। जो बाहरी वस्तु है उस के लिए एक बाहरी सम्बन्धकारक भी खोजना पड़ सकता है या उपयोगी हो सकता है वही आब्जेक्टिव कोरिलेटिव है। और मैं समझता हूँ कि एलियट और येट्स की दृष्टि में यह बुनियादी भेद है भी। येट्स में कहीं ज्यादा संस्कृति की चेतना है, सांस्कृतिक अस्मिता की चिंता है और इतिहास की नहीं है, जब कि एलियट को उतनी ही ज्यादा इतिहास की चिन्ता है।

मैं समझता हूँ कि आप की यह बात काफी विचारोत्तेजक है और मुझे सही भी लग रही है। लेकिन यहाँ पर फिर मेरे मन में यह सवाल पैदा होता है कि, जैसा आपने देखा होगा, इधर साहित्य के विचारकों में एक प्रवृत्ति लक्षित की जा रही है। आधुनिक रचना के इस पूरे दौर से ही उन को संतोष नहीं मिलता, उस के कारण चाहे कुछ भी हों, जायज या नाजायज कारण। उन का यह कहना है कि रचना के पिछले चालीस वर्ष जो हैं यह एक तरह का

वाले बल्कि दूसरे को भी बुलवा सकें—यह कैसे सम्भव होगा? यह सोचें तो फिर नये सिरे से पुराने साहित्य की भी एक पहचान बनती है, क्या कि उस में भी एक 'चेहरा' बोलता रहा। उस काव्य में जो चरित्र आते थे उन में बहुत से ऐसे थे कि उन की मार्फ़त कवि अपनी ही बात कहता था। राधा और कृष्ण तक के बहाने से—उन के निमित्त से कवि अपनी भावनाएँ भी प्रकट करता था। यानी जो शुद्ध धार्मिक काव्य है उस से अलग, भक्ति और रीति काव्य में बहुत सा ऐसा था जिस में कवि अपनी भावनाएँ, अपने भाव, अपने अनुभव प्रकट करता था—लेकिन राधा कृष्ण को या किसी और चरित्र को निमित्त बना कर। तो उस से मेरे सामने यह बात स्पष्ट हुई कि बड़ी बात—अपने से बड़ी बात कहने के लिए अपने से अलग एक चेहरे की भी आवश्यकता हो सकती है। फिर मैंने यह भी पहचाना कि नाटक में भी तो बराबर यही होता है। और यहाँ तक कि नाटक में यदि कभी कोई महच्छक्ति मंच पर आती है तो वह चेहरा पहन कर आती है, जब कि साधारण मानवीय चरित्र अपने मानवीय रूप में भी आ सकते हैं। एक ही नाटक में आप देखेंगे कि कोई बड़ी शक्ति आती है तो वह चेहरा पहन कर आती है और बाकी लोग साधारण मानवीय चेहरा ले कर ही अभिनय में प्रवृत्त होते हैं। तो इस से यह बात और स्पष्ट हो गयी कि चेहरे की उपयोगिता होती है।

इस सन्दर्भ में एक विदेशी रचना का, आधुनिक रचना का विदेशी प्रसंग भी मेरे मन में उभर रहा है। इस लिए मैं जानना चाहता हूँ कि आप का विचार क्या है। जैसे निर्वैयक्तिकता का आदर्श कि कवि को स्वयं बहुत नहीं बोलना चाहिए और अच्छी आत्माभिव्यक्ति भी—और एक तरह से काव्य की वस्तुपरकता और आत्मपरकता का द्वन्द्व भी—हल करने की दिशा में दो विचार इस शताब्दी के अंग्रेज़ी काव्य में आये। एक तो एलियट का 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' वाला सिद्धान्त था—कि अपने से बाहर, अपनी जीवनी से बाहर, अपने जीवनगत अनुभव से बाहर या किसी स्थिति की, किसी नाटकीय परिस्थिति की, किसी कहानी की कल्पना करें और उस के ज़रिये आप अभिव्यक्ति करें। और दूसरा जो है एक तरह से एलियट से बहुत ही भिन्न किस्म के आधुनिक कवि थे—येट्स—उन का। उन्होंने 'मास्क' की अवधारणा की। लेकिन इन दोनों में दार्शनिक दूरी बहुत है—एलियट के और येट्स के बीच में, 'मास्क' और 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' के बीच में। येट्स में तो 'फोक बायोग्राफी' का बड़ा महत्त्व है, उस की अपनी

'सब्जेक्टिविटी', उस के अपने व्यक्तित्व की बहुत महत्त्व है तो 'मास्क' की अवधारणा में उस की यह बात नहीं कटती, जब कि एलियट का स्पष्टतया निर्वैयक्तिक आदर्श है। तो मैं यह जानना चाह रहा था कि जब आपने आज के कवियों की रचना को देखते हुए और उन के प्रति एक आलोचनात्मक रवैया अख्तियार करते हुए उन की कविता से या उन के रचना-दर्शन से असंतोष अनुभव करते हुए जब इस प्रतिमान को सुझाया तो इस में किस तरह की मुक्ति या किस तरह से बदलाव की क्या उम्मीदें, क्या अपेक्षाएँ आप की थीं—कि रचना इस तरफ़ जानी चाहिए।

देखिए, आपने जो नाम लिये दोनों ही अपनी अपनी जगह ठीक हैं, दोनों उपयोगी भी हो सकते हैं। अगर आप का आग्रह ऐतिहासिक वस्तु पर है या आप की दृष्टि इतिहास को महत्त्व देती है—जैसा कि मैं समझता हूँ कि एलियट ने दिया—तो आप वस्तु जगत् में ऐसा सम्बन्धकारक खोजते हैं जो कि आब्जेक्टिव कोरिलेटिव है, उस के निमित्त से आप अपने ऐतिहासिक रूप को सामने लाते हैं, ऐतिहासिक निर्वैयक्तिक रूप को। इस लिए आप को वस्तु जगत् में ऐसे सम्बन्धों की खोज उपयोगी जान पड़ती है, आवश्यक भी जान पड़ती है, उस के माध्यम से आप अपनी बात कहते हैं। दूसरी तरफ़ जहाँ तक दृष्टि में संस्कृति पर ज़्यादा ज़ोर है—ऐतिहासिक अस्मिता पर नहीं, सांस्कृतिक अस्मिता पर—वहाँ उस आब्जेक्टिव या कि वस्तुगत कोरिलेटिव का महत्त्व नहीं है, वहाँ पर मास्क ज़्यादा उपयोगी है। क्या कि सांस्कृतिक वस्तु तो बाहरी होती ही नहीं, वह आभ्यन्तर ही रहती है इस लिए वह तो चेहरा माँगती है। जो बाहरी वस्तु है उस के लिए एक बाहरी सम्बन्धकारक भी खोजना पड़ सकता है या उपयोगी हो सकता है वही आब्जेक्टिव कोरिलेटिव है। और मैं समझता हूँ कि एलियट और येट्स की दृष्टि में यह बुनियादी भेद है भी। येट्स में कहीं ज़्यादा संस्कृति की चेतना है, सांस्कृतिक अस्मिता की चिन्ता है और इतिहास की नहीं है, जब कि एलियट को उतनी ही ज़्यादा इतिहास की चिन्ता है।

मैं समझता हूँ कि आप की यह बात काफ़ी विचारोत्तेजक है और मुझे सही भी लग रही है। लेकिन यहाँ पर फिर मेरे मन में यह सवाल पैदा होता है कि, जैसा आपने देखा होगा, इधर साहित्य के विचारकों में एक प्रवृत्ति लक्षित की जा रही है। आधुनिक रचना के इस पूरे दौर से ही उन को सन्तोष नहीं मिलता, उस के कारण चाहे कुछ भी हो, जायज़ या नाजायज़ कारण। उन का यह कहना है कि रचना के पिछले चालीस वर्ष जो हैं यह एक तरह का

विचलन, मुख्य धारा में विचलन है और उस से पहले—नयी कविता, प्रयोगवादी कविता से पहले—हिंदी कविता सही दिशा में चल रही थी। उन के मत से वह बड़ा सही काव्य था, लेकिन इस को जो बौद्धिक दिशा दी गयी या आधुनिक दिशा दी गयी वह सही नहीं थी। और उस पर जो आतंक हुआ था जो प्रभाव पड़ा वह एक तरह से एक विचलन ही है, कविता का स्वाभाविक विकास नहीं हुआ, वह उस से कुंठित हुआ। अब संतुलन फिर से सही करने की बात की जा रही है। और मजे की बात यह है कि इस नय आग्रह में, इस के चिंतन में एक तो आप के द्वारा अभी प्रस्थापित दोनों चीज़ों के—इतिहास और संस्कृति के—किसी के पक्ष या विपक्ष में तर्क नहीं है—न तो सांस्कृतिक अस्मिता के पक्ष में कोई ठोस तर्क सामने आ रहा है और न उस तरह से इतिहास सिद्ध रचना दृष्टि जो एलियट की चिंता थी। एलियट वाली तो उन के लिए और भी उपेक्षणीय है, और भी गलत है, क्योंकि इतिहास की चिंता तो उन को है, लेकिन वैसी नहीं है जैसी एलियट की है। तो इस प्रसंग में, इस आरोप या नये आग्रह के सामने आप कुछ कहना चाहेंगे ?

पता नहीं इस के बारे में क्या कहा जा सकता है क्या कि इस तरह का चिंतन बहुत ज्यादा संगत या प्रासंगिक नहीं है। एलियट और यीट्स तो दोनों कवि हैं और कविता से उन का बहुत गहरा सरोकार है कविता की उन को चिंता है। जिन लोगों की बात आप कर रहे हैं उन के ऐतिहासिक चिंतन में कविता की चिंता उन को बहुत कम है। एक वैचारिक तारतम्य की चिंता तो उन को है लेकिन उस में कविता कहां तक बचती है इस की चिंता उन को नहीं है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि उस की बहुत ज्यादा समझ भी उन को नहीं है। और बहुत-सी चीजें जिन को ये लोग प्रशंसा भी करते हैं उन में बहुत कम ऐसी चीजें हैं जिन को कविता माना जा सकता है। यहां तक कि कुछ अच्छे कवियों की चीजें भी वे चुनते हैं तो जो उन का वास्तविक काव्य है उस को एक तरफ कर देते हैं और केवल जो स्वयं उन के विचार या मतवाद से मेल खाता है उसी की प्रशंसा करते हैं।

यह तो खैर है। अभी आपने रीति-काव्य की बात कही। मुझे याद आता है बहुत शुरू में भी आपने यह जो एक तरह से प्राप्ति की समस्या है, रचने की समस्या है इसी के प्रसंग में, कवि-कर्म की दृष्टि से, व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से ऐसा महसूस किया था कि रीति-काव्य से भी कुछ सीखा जा सकता है। लेकिन अगर काव्य के

पक्ष को लिया जाये, सवेदन के पक्ष को लिया जाये तो रीति हम से बहुत दूर जान पड़ती है। उस की मानसिकता से, मनोभूमि से किसी तरह की सहानुभूति स्थापित करना बडा कठिन है। इस से जो प्रश्न का रूप मेरे मन मे बनता है यह है कि क्या विगत युग की किसी ऐसी कविता या साहित्यिकता से आज का रचनाकार कुछ सीख सकता है जिस से कि उस का मानसिक तादात्म्य बिल्कुल भी न हो, जिस से वचारिक शिल्पो के रूप मे ही सही, कुछ सीख सकता है?

सहानुभूति न हो सके? अगर आप तादात्म्य के लिए मानसिक पक्ष पर जोर द रह है तब तो उस स हा सकता है जिस स सहानुभूति तो नही है लेकिन जो तक की दृष्टि से सम्मान्य जान पडता है। बात यह है कि हम जब 'रीति युग' की बात करते हैं ता एक बात भूल जात है या एक ही पक्ष पर हमारा आग्रह रहता है। रीतिया म से केवल एक रीति पर—जिस का यहाँ पर बात स्पष्ट करने के लिए दरबारी रीति भी कह सकता हू—दरबारी रीति पर हमारा सारा जोर रहता है। लकिन रीति तो लोक साहित्य म भी काम करती है—इस के बावजूद कि लाक साहित्य का उस तरह काई व्यक्तिगत रचयिता नही माना जाता।

किसी सीमा तक रीति परम्परा का एक अग भी है—उस का साधन भी है। हाँ उस रीति से निश्चय ही सीखा जा सकता है, उस की पहचान भी बनी रहनी चाहिए। बल्कि हर नया आदोलन भी आरम्भ म चाह जितना विद्रोही भाव ले, जितना रीति विरोधी मुद्राएँ अपनाय धीरे धीर वह एक रीति गढता है, फिर वह रीति ऐसी हा जाती है कि उस म जडता आ जाती है, फिर उस के विरुद्ध आदोलन हाता है। आज भी जो लिखा जा रहा है उस म बहुत सा ऐसा है कि या ता नयी रीति गढने म याग द रहा है या रीति के अनुकूल चलन का प्रयत्न कर रहा है। वहा भी अपन निजी अनुभव की या कि वैस गहर तादात्म्य की कमी उस म है, लेकिन रीति का निर्वाह करन का प्रयत्न है क्या कि उस स सामाजिक स्वीकृति मिलन की आशा उस का होती है।

एक यह भी मेरे मन मे प्रश्न उठता है कि साहित्य की जो भी रचनात्मक विधाएँ आज के युग में सक्रिय हैं, क्या ऐसा कहा जा सकता है—या ऐसा कहा जा सकता था—कि उपन्यास और निबन्ध ज्यादा सामाजिक विधाएँ हैं और कविता और कहानी ज्यादा आन्तरिक, ज्यादा निजी विधाएँ हैं, कि इस लिए उन से अपेक्षाओं का धरातल भी एक जसा नहीं हो सकता है। पहली

बात तो यही कि क्या आप ऐसा मानते हैं ?

आप को यहाँ टोकूँ जरा। आप कहानी को कविता में जोड़ रहे हैं और उपन्यास से अलग कर रहे हैं यह किस आधार पर ?

'फ़ार्म' के आधार पर। मुझे लगता है कि कहानी अधिक कलात्मक विधा है और उस की यह बड़ी भारी सीमा भी है।

या तो आप तीनों को अलग-अलग मान लें—उपन्यास से कहानी को तो अलग करें, लेकिन फिर कविता के साथ उस को कैसे जोड़ते हैं ?

कविता के साथ इस लिए जोड़ता हूँ क्यों कि कहानी को एक प्रसंग विशेष, क्षण विशेष पर बहुत एकाग्र करना होता है। एक कौंध सरीखी लपट-सी उस में

लेकिन फर्क यह है कि कहानी में जरूर कुछ घटित होना चाहिए जब कि कविता में कुछ घटित नहीं होता, कविता स्वयं घटित होती है।

हाँ, इतना अंतर तो है ही। सिर्फ रचना प्रक्रिया की दृष्टि से मुझे ऐसा लगा कि शायद 'पर्सनल एसे,' कहानी और कविता ज्यादा निकट की चीज़ें हैं और उपन्यास, नाटक शायद ज्यादा

पर्सनल एसे तो जरूर कविता के निकट होता है। कहानी उधर भी हो सकती है और दूसरे छोर पर उपन्यास के निकट भी जा सकती है।

चलिए, यह मैं मान लेता हूँ। तो मैं यह पूछ रहा था कि जैसे कविता को या कि साहित्य मात्र को दो प्रकार की अपेक्षाएँ हैं—जितनी भी परिभाषाएँ हैं उन को मिला कर देखें तो दो प्रकार की अपेक्षाएँ सामने आती हैं। सारी परिभाषाओं का सार जो निकलेगा यह निकलेगा कि साहित्य जीवन की आलोचना है। एक तो यह निकलता है, दूसरे यह निकलता है कि नहीं, साहित्य एक छिपे हुए जीवन का, जीवन के उस मर्म का जो कि जीवन जीते हुए नहीं देखा जा सकता न अनुभव किया जा सकता है—कि साहित्य उस मर्म का उद्घाटन करता है, जीवन के हार्द में जो जीवन प्रक्रिया है, उस का जो स्वरूप है उस को उद्घाटित करता है। तो ऐसा माना गया, जैसा मैंने कहा, कि ये दो ज्यादा सामाजिक विधाएँ हैं, ज्यादा समाज निर्भर विधाएँ हैं, उपन्यास और कहानी। और कविता जो है वह जीवन के छिपे हुए मर्म को उद्घाटित करने वाली या अज्ञात का पता देने वाली है। क्या आप ऐसा मानते हैं ?

और इस के साथ जुड़ा हुआ छोटा-सा प्रश्न यह कि क्या आप ऐसा समझते हैं कि आधुनिक रचना में यह बात काफी दूर

तक अप्रासंगिक हो गयी है और एक तरह से उलट कर कविता वह धर्म निभाने लगी है और उपन्यास यह धर्म निभाने लगा है ?

लेकिन क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि इस तरह का विभाजन तर्क की सुविधा के लिए किया जाता है ? क्या कि वास्तव में तो 'जीवन की आलोचना' और 'जीवन के किसी गहरे मर्म का उद्घाटन या प्रकाशन', ऐसा तो नहीं है कि एक से दूसरा बिल्कुल बहिष्कृत हो जाता है। दोनों साथ चलते हैं। असल में मानव की चेतना कितने स्तरों पर एक साथ काम करती है इस की हम उपेक्षा करें तभी इस तरह का विभाजन आत्यन्तिक जान पड़ता है नहीं तो लगातार हम गहराई में देखते हुए आलोचना भी कर रहे होते हैं और आलोचना कर रहे होते समय भी गहराई में देख रहे होते हैं। एक समय हमारा ध्यान एक तरफ केंद्रित होता है या दूसरी तरफ केंद्रित होता है लेकिन प्रक्रिया में तो सभी चीज़ें साथ चलती रहती हैं। हम जीते भी हैं, और जिये हुए को याद भी करते हैं और अर्थ भी खोजते हैं जो अर्थ हमें मिलता है उस की आलोचना भी करते हैं—आलोचना के आधार पर अर्थ खोजते हैं और खोज के आधार पर आलोचना करते हैं। ये इतनी ज्यादा साथ साथ चलने वाली क्रियाएँ हैं कि विचार करने के लिए सुविधा के लिए हम उन को अलग करते हैं लेकिन वास्तव में तो वे उतनी अलग नहीं होतीं। यह बात मैं आप की मानता हूँ कि इस प्रकार की विचार की दो धाराएँ रहीं—एक जिस में एक पक्ष पर बल दिया गया दूसरी जिस में दूसरे पक्ष पर बल दिया गया लेकिन आत्यंतिक रूप से ये अलग हैं नहीं। एक हद तक उन की उपयोगिता है, बस। इतना ही मुझे लगता है। यह तो मैं नहीं मान सकता कि ऐसा उपन्यास नहीं हो सकता या नहीं होता या नहीं होना चाहिए, जो कि गहराई से जीवन के ऐसे किसी मर्म का उद्घाटन करना चाह रहा हो जो साधारणतया हमारे सामने नहीं आता, या कि दूसरे पक्ष में काव्य जीवन की आलोचना न कर रहा हो।

क्या दो-टूक ऐसा सवाल सार्थक होगा कि आज आप को सब से ज्यादा सम्भावनाएँ या सब से ज्यादा जीवंतता किस विधा में दिखाई देती है—हिंदी में ही ?

एक तो इस का सामान्य उत्तर है—कि सम्भावना सिद्धान्ततः हमेशा काव्य में ज्यादा जान पड़ती है। दूसरे यह होता है कि समय समय पर समाज की जैसी अवस्था होती है या कि समाज के संवेदन का जो स्तर होता है या कि किसी समय के जो रचनाकार होते हैं उन की प्रवृत्ति जिधर होती है उस से अन्तर पड़ता है। इस दृष्टि से मुझे लगता है कि इस समय

नाटक म कुछ नया काम भी हो रहा है और कुछ यह अनुभव भी सभी कर रहे है कि नाटक की सम्भावनाओं का पूरा उपयोग नही किया जाता रहा। पिछली दो-तीन पीढियो म तो उधर ज्यादा जोर है, उस म विकास की भी ज्यादा सम्भावना है।

लेकिन अभी थोडी देर पहले पिछले प्रश्न मे, आपने नाटक को भी शायद उपन्यास के साथ रख दिया था। जब कि मैं तो सोचता हूँ कि अगर नाटक को दूसरी तरफ रख कर—काव्य के साथ जोड कर विचार करें तो मुझे लगता है कि उस म बहुत अधिक सम्भावनाएँ है जिन का उपयोग लगभग नही किया गया।

यहीं प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यो नहीं हुआ। नाटक तो लिखे गये —बहुत सारे नाटक लिखे गये। लेकिन किसी ने भी—जब कि यह सही है कि 'अंधा युग' चाहे जिस कोटि का पद्य नाटक हो, वह मचित हो कर सफल तो हुआ—लेकिन तब से क्या नहीं जरूरत समझी गयी 'पोएटिक ड्रामा' की? जो कि निश्चित रूप से कविता मे भी, नाटक मे भी, एक गुणात्मक अन्तर उपस्थित करता— अगर पद्य-नाटक या गीति नाटक मे रचना होती तो। इस का कोई कारण आप के ध्यान मे आता है कि ऐसा क्यो नहीं हुआ होगा? पहली बात तो यह कि हिन्दी मे शुरुआत मे नाटक का जितना आकर्षण था—शुरू-शुरू मे नाटक बडे आकर्षण का केन्द्र था, भारतेन्दु का सब से ज्यादा उत्साह, सब से ज्यादा सर्जनात्मक ऊर्जा उसी मे झलकती है—नाटक की शुरुआत तो बडी उत्साहपूर्ण थी, लेकिन उस के बाद तो बिलकुल चौपट हो गया नाटक ही।

देखिए अगर आप भारतेन्दु के समय के नाटक की बात कर रहे हैं तो उस को संस्कृत की नाट्य परम्परा के सन्दर्भ म देखना चाहिए या कि पारम्परिक नाटक के साथ देखना चाहिए। भारतीय नाट्य परम्परा म यथार्थवादी नाटक का कभी महत्व नही रहा। एक-आध नाटक ऐसा हो सकता है जिस म कि नाटककार इस तरफ गया हो—मुद्राराक्षस जैसा या एक हद तक मृच्छकटिक जैसा भी—लेकिन यथार्थ जो दीखता है उस के पीछे जो ज्यादा गहरा कोई आशय छिपा हुआ रहता है उस को प्रकट करने या उस का उन्मेष करने की ओर नाटककार का ध्यान रहा। मैं समझता हूँ कि समकालीन नाटक—और शायद पूर्वी परम्पराओ से प्रभावित पश्चिमी परम्परा से वापस प्रभावित होता हुआ नाटक—फिर इस ओर थोडा आकृष्ट हुआ है कि यथार्थ की यथार्थवत प्रस्तुति का आग्रह छोड कर भी रचा जा सकता है। बल्कि नाटक म कभी यह प्रयत्न होता ही नही

कि चीजो को विश्वसनीय रूप से यथार्थवत् प्रस्तुत किया जाये। और ब्रेष्ट ने ही शायद इस बात पर पश्चिम म पहले पहल [illegible] से आग्रह किया कि हम तो यह बोध मिटने ही नही देना चाहते हैं कि जो आप देख रहे हैं वास्तव म घटित नही हो रहा, वह नाटक है। तो यह पहचान पश्चिम म यथार्थवादी नाटक की प्रतिक्रिया के रूप म प्रकट हुई, लेकिन उन को प्रेरणा पूर्वी परम्पराओ से मिली थी—चीन की, या जापान की या भारत की परम्परा से। और क्या कि उन्हें इधर से प्रेरणा मिली, इस लिए यहा का जो उस समय यथार्थवादी नाटक पर आग्रह करने वाला भारतीय नाटककार था, उसने एक बार फिर उस अपनी परम्परा की ओर देखना भी गवारा किया। और अभी व्यवहार म यह बात नही उतरी है कि आप नाटक को 'दृश्य काव्य' मान कर कविता के निकट ला सकते है, लेकिन सिद्धान्तत यह बात मानी जाती है, और लोग इस का कुछ अनुभव भी करने लगे हैं। शायद यही कारण है कि अभी वास्तव म काव्य-नाटक फिर से प्रकट नही हुआ है, होना चाहिए। अन्धा युग भी सफल तो हुआ, लेकिन उस से भी जो उस की वस्तु है—महाभारत स ली गयी—उस मे इतनी शक्ति है कि वहा नाटक के काव्य रूप का भी उपयोग हो रहा है इस बात की ओर कम ध्यान था, उस से आगे क्या सम्भावनाएँ बनती है इस की ओर भी बहुत कम ध्यान था। धर्मवीर भारती ने भी उस से आगे फिर नाटक नही लिखा और दूसरे लोगो ने भी नही। बल्कि पुराण वस्तु से भी—जिस मे इस तरह का शक्ति-सचय होता है जिस का उपयोग किया जा सकता है—ले कर कम ही लिखा। उस से पहले तो कुछ लोगो ने लिखे थे—खडकाव्य लिखे थे या छोटी नाटिकाएँ लिखी थी, ऐसे खडकाव्य जिन का मचीय रूपान्तर बडी आसानी से हो सकता था लेकिन उस के बाद यह नही हुआ। शायद कठिनाइयो मे एक कारण भाषा से सम्बद्ध भी है। प्रसाद की भाषा हम लोग अब स्वीकार नही करते क्यो कि वह साहित्यिक भाषा है बोल चाल की भाषा नही है। यह जरूरी नही है कि मच की भाषा आज की बोल-चाल की भाषा ही हो, लेकिन अगर आप वस्तु की दृष्टि से भी बिलकुल नया कुछ कर रहे हैं तो फिर यह प्रयत्न होता है। एक चीज नयी कर रहे हैं तो उस के लिए जो चीज उतनी नयी नही है, परिचित है, उस को आधार बनाया जाय—सभी कुछ अपरिचित हो जायेगा तो और अधिक कठिनाई होगी। इस लिए भाषा म तो आग्रह यह रहता है कि आज की बोल चाल के निकट रहे और वस्तु म कुछ उडान भी भरते है। जब कि अगर वैसी वस्तु है तो वह माग करती है कि भाषा भी उस के अनुकूल होनी चाहिए। इस से थोडा डरते है लोग

हालांकि कोई कारण नहीं है। मेरा तो जैसे पाठक में विश्वास है वैसे ही रंगमंच के दर्शक में भी विश्वास है कि उस को आप साथ न चल सकते हैं और वह इस नाट्य-यात्रा में आप के साथ चलने को तैयार होगा, आप में इतना सामर्थ्य होना चाहिए कि उस को साथ ले चल सकें।

लेकिन एक बात तो है। जैसा आपने कहा, इधर नाटक में काफी नयी रचना हो रही है, लेकिन जो भी नयी रचना हो रही है नाटक में, उस में जिसे आप यथार्थवादी कह रहे हैं वही प्रवृत्ति प्रमुख है। इस लिए इस नाटक-बहुलता से नाटक का या यथार्थ का भी कोई खास भला नहीं हो रहा है। इसी के साथ एक बात यह भी पूछना चाहूँगा कि क्या आप समझते हैं कि नाटक को अब भी संस्कृत की नाटक-परम्परा की दृष्टि से देखना चाहिए? यथार्थ के प्रति जिस प्रकार का दृष्टिकोण वहां था—गैर-यथार्थवादी ढंग से यथार्थ को उजागर करना—क्या आप मानते हैं कि भारतीय मानस या साहित्य के साथ अब भी उस का सम्बन्ध वैसा ही है? या कि हिन्दी में संस्कृत की परम्परा से भिन्न एक दूसरे प्रकार का मानस हो गया है, अधिक यथार्थवादी मानस—उस की यथार्थ को देखने की या साहित्य में यथार्थ को ग्रहण करने की दृष्टि ही बदल गयी है?

ऐसा तो मैं नहीं मानता हूं। मानव स्वभाव इतना नहीं बदल गया है इस के बावजूद कि

मानव स्वभाव नहीं, सांस्कृतिक स्वभाव।

नहीं, मैं नहीं समझता कि वह इतना बदला है। बात सन्दर्भ में ही रखिए। यह तो मान लेता हूँ और यह देखता भी हूँ कि बहुत सी चीजों पर तो यथार्थवादी आग्रह है क्या कि सांस्कृतिक मूल्यों में उस तरह का बदलाव आया है। लेकिन अप्रकट या अप्रकाशित ही सही, इस तरह की मांगें व्यक्ति में हैं—और दबकर उन में शायद एक शक्ति का संचय कुछ अधिक हो गया है—जो अधूरी रह जाती है और जिन को इस तरह का नाटक पूरी कर सकता है। आपने कहा कि इधर जो नाटक लिखे जा रहे हैं वे सब यथार्थवादी आग्रह के अनुरूप ही हैं। एक तो यह बात ध्यान में रखिए कि नाटक की परम्परा विशेष रूप से हिन्दी में लगभग मिट ही गयी थी। एक तो पहले नाटक को फिर से समाज में कोई स्थान दिलाना है, जो अब फिल्म और टी० वी० की प्रतियोगिता में आसान काम नहीं है। यह नहीं है कि फिल्म या टी० वी० नाटक की आवश्यकता को बिल्कुल मिटा दे सकते हैं लेकिन इस काम को कठिन तो जरूर बना देते हैं। फिर यह भी

है कि उस को फिर से स्थापित करने के लिए आप को शायद ऐसा भी करना हो—या कम से कम यह तो आवश्यक जान पड़े—कि पहले जो सामान्य फिल्म देखने वाला है और जो सम्भाव्य नाटक देखने वाला हो सकता है पहले उस की रुचि को ध्यान में रख कर आप वास्तविकता को या कि जीवन के बहिरंग को प्रस्तुत करें जिस के सहारे वह आगे बढ़ सकता है, और जिस दूसरे प्रकार के नाटक की बात हो रही है (जो या भी अल्पसंख्यक और ज्यादा संस्कारी दर्शक के काम का हो सकता है) उस पर बाद में ध्यान देंगे। लेकिन मैं समझता हूँ कि ऐसा सोचना ठीक नहीं है दोनों साथ ही साथ चलने चाहिए। यह मान कर भी कि उस तरह के संस्कारों वाला व्यक्ति समाज में अल्पसंख्यक होगा लेकिन समाज की मूल्य दृष्टि की स्थापना में उस का महत्त्वपूर्ण योग होता है और कुछ साहस कर के आगे बढ़ने की प्रवृत्ति भी उस में ज्यादा हो सकती है। इस लिए उस की संख्या कम होने के कारण ही उस को इतना हेय नहीं मान लेना चाहिए। तो काव्य नाटक के लिए जगह है और वह लिखा जाना चाहिए लिखा ही नहीं प्रस्तुत किया जाना चाहिए ऐसा मैं मानता हूँ।

> अब इस बात को थोड़ा सा एक दृष्टान्त की मदद से देखें। उन दो चार नाटकों में जिन में यह महसूस किया जा सकता है कि यथार्थ से उस तरह का सम्बन्ध बना, गैर यथार्थवादी नजरिये से—जो सिर्फ सतही यथार्थवादी नाटक नहीं हैं—जैसे 'हयबदन'—उन से भी एक दूसरी तरह का असन्तोष मन में होता है। आप को ऐसा लगता है कि यहां 'बैताल पच्चीसी' की उस कहानी के साथ वैसा सीधा सम्बन्ध नहीं है, बल्कि एक अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यों तो कहा जा सकता है कि यह स्वाभाविक ही है, कि हम बहुत सी अपनी चीजों को अगर ज्यादा प्राणवान् सभ्यता से परावर्तित हो गये रूप में ग्रहण करते हैं तो इस में बुरा क्या है? उस तरह से उस में बुरा कुछ नहीं है। लेकिन एक रचनाकार के लिए, एक नाटककार के लिए आखिर 'हयबदन' नाटक देखने वाला भी उस के प्रति किस तरह से प्रतिक्रिया करेगा? वह शायद एकाएक दोनों का सम्बन्ध ही न देखे—जरूरी नहीं है कि उस को अतीत की उस कहानी की याद उस सन्दर्भ में आये ही। क्या आप नहीं समझते कि 'हयबदन' की समस्या मनोवैज्ञानिक स्तर पर 'रेडयूस' हो गयी है, जब कि मूल कहानी की टंकार ज्यादा है।

मूल कहानी की बात आप कहते हैं तो उस के और हयबदन के बीच एक सीढ़ी तो और है—और वह भी पश्चिमी सीढ़ी है।

वही मैं कह रहा था। 'ट्रांसपोज्ड हेड्स' के जरिये ही मैं बात कह रहा हूँ।

लेकिन उस से क्या होता है ? जिस को आप सीधा सम्बन्ध कहते हैं, साहित्य में तो वैसे सीधे सम्बन्ध कभी बनते नहीं है। अगर कभी सीधा सम्बन्ध बनता भी है तो उस से परे उस के जो अकल्पित, अप्रत्याशित और शायद अपूर्वानुमेय प्रभाव होते हैं वही तो ज्यादा महत्त्व रखते हैं। कोई प्रभाव किस किस तरह काम करेगा, यह बहुत कुछ तो ग्रहीता पर निर्भर करता है उस के समाज पर निर्भर करता है। तो इस की इतनी अधिक चिन्ता क्या होनी चाहिए कि सीधा प्रभाव हो या कि सीधा सम्बन्ध बने ?

देखिए, यह तो दो स्तरों पर 'डेरिवेशन' हो जाता है। जिस प्रकार का सम्बन्ध किसी भी 'मिथ' से आप जोड़ते हैं तो वह क्यों जुड़ता है ? आप का अपनी आत्म स्थिति की कोई परिभाषा या कोई स्पष्टतर व्याख्या या कोई उजाला मिल सकता है इसी लिए तो

न, न, यह कारण नाकाफी है। जुड़ता इस लिए है कि एक तो आप का सीधा सम्बन्ध दीखता है। दूसरे, उस के साथ-साथ बहुत-से स्वयं अपने में अलक्षित या कम से कम अनभिव्यक्त प्रश्नों के साथ उतने ही अनभिव्यक्त उत्तर या कि अलक्षित आयाम जो कि कथा में या पुराण वस्तु में हैं वे भी जुड़ते जाते हैं। तो एक स्तर पर जो प्रकट है उस का प्रकट वस्तु से सम्बन्ध होता है। दूसरे स्तर पर एक पहचान उभरती है कि इस के नीचे मुझ में कुछ छिपा हुआ था जो कि इस कथा के पीछे छिपे हुए के साथ अपना सम्बन्ध बना रहा है। वह सम्बन्ध ठीक ठीक क्या है उस को हम सीधे सीधे शब्दों में नहीं कह सकते, लेकिन जानते हैं कि एक और स्तर पर सम्बन्ध बन रहा है। और उस की शक्ति असल में वही है और वहीं पर है।

क्या आप को ऐसा नहीं लगता कि लिखे हुए शब्द की बजाय बोले हुए शब्द के प्रति ही आज भी हमारी जनता, साधारण पढ़े लिखे लोग भी ज्यादा संवेदनशील हैं ? क्या आप को ऐसा नहीं लगता कि जिसे कहते हैं 'लिटरेरी कल्चर', साहित्यिक संस्कृति, साहित्य के प्रति ज्यादा रुझान, ज्यादा व्यसन—वैसा आज भी नहीं हो पाया है ?

एक हद तक तो हमेशा ऐसी स्थिति रही है। मेरा ख्याल है कि कोई नयी बात अगर है तो यही है कि हम एक बार फिर से पहचान रहे हैं इस बात

को। नही तो पढ़े लिखे व्यक्तियों में भी हमेशा वाचिक अभिव्यक्ति का महत्व रहा है।

आप की नज़र में क्या यह सम्भव है कि कोई आदमी समाजवादी भी हो और जीवन-जगत् के प्रति अत्यन्त धार्मिक दृष्टिकोण रखना भी उतना ही अनिवार्य पाये? क्या इस में परस्पर विसंगति नहीं है?

विसंगति तो हो सकती है। लेकिन विसंगति तो हमेशा सम्भव है न! ऐसा होना सम्भव है यह तो हम प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं—क्या कि अधिकतर समाजवादी तो ऐसे ही हैं। और उतनी गहरी विसंगति भी तो नहीं है—कुछ एक विशेष प्रकार के समाजवादों को छोड़ कर। समाजवादी होना जरूरी तौर पर धर्म से कटे हुए होना है, यह तो सिद्ध नहीं होता। लेकिन समाजवाद के मूल में अगर भौतिकवाद हो और उस भौतिकवाद के मूल में अनीश्वरवाद हो, तब तो यह सवाल उठ सकता है।

मैं इसी सवाल को दूसरे रूप में रखूं। क्या समाजवादी होना एक 'नो मैन्स लैंड' में होना नहीं है? अगर समाजवाद को उस की तार्किक परिणति पर ले जाते हैं तो वह मार्क्सवाद या कि कम्युनिज़्म हो जाता है। उस का एक धर्म जैसा तन्त्र है और उसी अनिवार्यता के साथ वह उस को लागू करता है। तो मुझे लगता है कि जो कम्युनिस्ट होता है उस को एक प्रकार के धार्मिक भावावेग का और 'कमिटमेंट' का भी लाभ मिल जाता है और उस की शायद धार्मिक वृत्ति भी कुछ सन्तुष्ट हो जाती होगी।

अब आप उस को उस का लाभ कहिए या कहिए कि उन के जिस तरह के पूर्वग्रह होते हैं, या कि असल में तो उन की कमजोरी है उस तरह का धार्मिक मताग्रह, वह भी उन के काम आ जाता है। इस अर्थ में तो उस को 'लाभ' मिल जाता है। या कि वह उस का उपयोग कर लेता है इस के लिए एक बहाना या रास्ता पा लेता है कि उतना ही कट्टर मताग्रह भी बना रह जाए कि भाववाद के साथ होना है और साथ ही साथ बुद्धि का, तर्क का आग्रह भी निभ जाय। लेकिन समाजवादी के जो मूल्य हैं उन के लिए जरूरी तो नहीं है कि आप ईश्वर को या आत्मा को अमान्य करें। क्या जरूरी है? यह भी जरूरी नहीं है कि उस की मार्क्सिस्ट परिणति ही हो।

साहित्य में भी जितना समाजवाद प्रतिफलित हुआ है उस का दृष्टान्त अगर आप लें तो बर्नार्ड शॉ से, या कि '१९८४' के लेखक तक को लें—ऐसा एकाएक नहीं कह सकते कि यह धार्मिक दृष्टि

हाँ, इधर जितना राजनीतिक समाजवाद इतिहास का आधार ले कर प्रति फलित हुआ है, वह एक है। लेकिन अगर आप देखें कि किन लोगों ने समा जीवन जिया और समता के आदर्श निबाहे तो आप पायेंगे कि उन में सन्त लोग बहुत थे।

हाँ, यह बात तो है। लेकिन अब यहीं पर बुनियादी सवाल खड़ा होता है कि क्या समाजवाद की मूल प्रेरणा इतिहासवाद से ही नहीं निकलती है? अगर नहीं निकलती है तो फिर आप यह कह रहे हैं कि इतिहास को बहुत महत्त्व न देने वाली जो परम्पराएँ हैं उन में भी समाजवाद का एक नया चिन्तन, एक भिन्न प्रस्थान प्रकट हो सकता है।

हाँ, यही कह रहा हूँ कि ऐसा हो सकता है। और समाजवाद के जितने भी मूल्य हैं वे सब वहाँ से भी सिद्ध हो सकते हैं उस आधार पर भी एक समतावादी समाज सिद्ध किया जा सकता है और जिया जा सकता है ऐसा समाज जिस में कि सरकार की पीठिका नगण्य हो या कि क्रमश अधिकाधिक नगण्य होती जाय।

इस पर फिर मेरे दिमाग में यह सवाल, प्रतिप्रश्न पैदा होता है कि क्या यह समाजवाद की नयी कल्पना या नया आधार, दर्शन जो प्रस्तुत होगा, यह वहीं पश्चिम में जैसे समाजवाद के शुरू के जो चिन्तक थे, जिन को 'यूटोपियन' कहते थे, वह क्या उधर जायेगा? या उस से किस तरह से भिन्न होगा?

आप कह लीजिए। आज हम जिस दुनिया में जी रहे हैं उस में समता पर आधारित समाज तो एक यूटोपियन कल्पना ही है। ऐसा कोई समाजवादी देश नहीं है जहाँ पर कि वास्तव में वैसी समता होती हो, वैसी स्वाधीनता होती हो जिस की उन लोगों ने कल्पना की थी। सिद्धान्तत समाजवादी भी उस की बात तो करते हैं लेकिन ऐसे ही भविष्य में करते हैं। तो भविष्य में ऐसा हो जायगा जब कि हमारी सारी प्रवृत्तियाँ उस के विरुद्ध हैं —यह तो एक तरह का यूटोपियन चिन्तन है ही। उन लोगों को आप यूटोपियन कहते हैं क्या कि उन की कल्पना का देश कहीं नहीं है। देश तो आप की कल्पना का भी कहीं नहीं है, पर आप का दावा है कि एक काल्पनिक काल में वह जरूर वास्तविक होगा। स्वप्न-काल वैज्ञानिक है स्वप्न-देश काल्पनिक यह कहने का क्या आधार है? लेकिन अपने देश में गान्धी जी ने जिस तरह का चिन्तन किया था और उन के बाद उसी दिशा में थोड़ा बहुत विचार हुआ और पश्चिम में इधर परिवेश को ले कर या इकालाजी की समस्याएँ उठा कर जिस तरह का चिन्तन हुआ है वह भी एक हद तक

आप कह सकते हैं कि यूटोपियन है। पर भूल्या की अवधारणा करने वाला मानव आदर्श क्या नहीं गढ़ सकता ?

लेकिन पहले वाले 'यूटोपियनिज्म' से तो यह भिन्न होगा ही। तो क्या इस में वास्तविक परिस्थितियों को चुनौती है ?

उस से तो भिन्न है। और उस के साथ यह आशा भी है यह बोध भी है कि यद्यपि अभी तक यह एक कल्पना है लेकिन अगर हम इस कल्पना को साकार करने की तरफ अपना प्रयत्न नहीं बढ़ाते तो क्रमश: हमारी अवस्था और हीनतर ही होती जायगी।

क्योंकि आखिर गान्धी जी की जो रामराज्य वाली कल्पना थी वह खाली एक धार्मिक 'सेंटिमेंट' नहीं था। उन के शेष कर्म से मिला कर देखने के लिए एक प्रेरणाप्रद विचार तो था ही। यह तो दूसरे चिन्तकों का, जो अपने को चिन्तक समझते हैं उन का दायित्व है कि वे अपने को विकसित करें। तो आप को समाजवादी चिन्तक ऐसे लगते हैं कि उन्होंने गान्धी जी के विचार को या गान्धी जी की दिशा के विचार को भारतीय परिस्थितियों के मुताबिक, सामाजिक समता के विचार को विकसित किया हो आज की बौद्धिक जटिलताओं के बीच में—सांस्कृतिक जटिलताओं के बीच में ?

मुझे तो यह लगता है कि आपने जिन यूटोपियनों की बात की—उस समय के यूटोपियन और उस समय के अनार्किस्ट, जो अराजकतावादी थे, अब आज फिर से वे तो नहीं आयेंगे। लेकिन आज चिन्तन की जो धारा निकल रही है वह भी कुछ अनार्किस्ट नहीं तो कम से कम राज्य-विरोधी तो है ही और उस हद तक यूटोपियन भी है। एक तो बात यह है कि आप भविष्य की कल्पना कर के उस के आधार पर वर्तमान का खण्डन करें तो यह यूटोपियन मार्ग ही है। और वर्तमान का संकट देख कर आप एक भविष्य की कल्पना करते हैं और हमेशा वर्तमान पर आग्रह करते हुए ही यह सोचते हैं कि हम ऐसा भविष्य नहीं चाहिए ऐसा चाहिए—तो हमारा वर्तमान में कुछ दूसरी तरह का प्रभाव होता है। और मैं समझता हूं कि आज इकालाजी वाले के जो चिन्ता है वह वर्तमान परिस्थिति में से ही निकली हुई चिन्ता है।

इस के अलावा क्या आप को ऐसा नहीं लगता है कि यह जो 'यूटो-पियनिज्म' है या कि भविष्य की कल्पना करने की आदमी की मूल किस्म की प्रवृत्ति है, उस के दो स्तर हो सकते हैं—एक तो वह जो कि इतिहास को समझने से बनता है और दूसरा वह जो अनैतिहासिक मार्क्सवाद या अनैतिहासिक दृष्टि का जो 'यूटोपियनिज्म'

हो सकता है, यानी हेनरी मूर जसा 'यूटोपियन' या प्लेटो जसा 'यूटोपियन'। उस के भीतर दूसरी चितनात्मक या कार्मिक सम्भावनाएँ हो सकती हैं, और रामराज्य जसा जो 'कासेप्ट' है उस की दूसरी प्रवत्ति भी हो सकती है।

अब बातचीत तो साहित्य से ही शुरू हुई थी और साहित्यिक समस्याओं की ही चर्चा हम लोग कर रहे थे। फिर एकाएक हम लोग वचारिक समस्या मे खास तौर पर राजनीति मे चले गये। तो इन दोनो को मिलाते हुए इस का समापन किया जाये। इस परिस्थिति का क्या कारण है कि राजनीति मे जो दल या जो दशन सब से कम फलदायक सिद्ध हुआ या सब मे कम जिस की जड बन पायी, साहित्य मे उस का एक घटाटोप-सा दिखाई देता है?

कैसे?

जसे यही कि आज जो भी पत्रिकाएँ—पहली बात तो यही कि बुरे सेंस मे विकेन्द्रीकरण हो गया है, कोई पत्रिकायें नहीं हैं, कोई केन्द्रीय रुचि की या ऐसी पत्रिका जिस मे छप कर आदमी को यह लगे कि किन्हीं साहित्यिक मानकों के आधार पर उस की रचना को स्वीकार किया गया है या कि जिस मे छपना युवा लेखक के लिए उस तरह का सन्तोष दे सके। लेकिन जो भी पत्रिकाएँ आप के पास हैं, आज कोई भी पत्रिका उठा कर देखिए तो उस मे जिस प्रकार के यथार्थवादी आग्रह काम कर रहे हैं—हर लेखक कहीं न कहीं मार्क्सवाद के आतक मे है या उस के प्रभाव मे लिख रहा है। अब यह वास्तविकता है कि नहीं पता नहीं, लेकिन ऐसा भ्रम तो आखिर खडा हो ही जाता है। लेखकों के ही सगठन भी—(पहले हुए भी होंगे, लेकिन एक प्रकार से यह 'रिसर्जेंस' ही है) प्रगतिशील सगठन, जनवादी सगठन, लेखकों के और सगठन भी—एक तरह से राजनीतिक पार्टी के 'विंग' की तरह ही बन रहे हैं। तो एक ऐसी स्थिति सामने है कि लगता है इस को अगर साहित्य का प्रमाण माना जाये तो किसी बाहर के आदमी को ऐसा भ्रम हो सकता है कि जसे कि देश मे सब से प्रचलित, लोकप्रिय और प्रभावी राजनीति दशन 'कम्युनिज्म' ही है।

देखिए उन का तो चिन्तन यही है कि सघर्ष के अनेक मोर्चे है जिन मे एक मोर्चा लेखन वाला है उस को भी मोर्चे की तरह मे सचालित करना है। इस का भी उपयोग उन के उन्हीं उद्देश्यों के लिए करना है जो कि साहित्यिक उद्देश्य नहीं है। तो वे जो कर रहे हैं वह उन के दशन के भीतर तो समझ मे

आता है। आप नये लेखक की बात सोचें जो उस दर्शन से परिचित नहीं है या उस का मानने वाला नहीं है, तो वह भी कुछ उधर झुकता है तो इस लिए नहीं कि उस की वास्तविक सहानुभूति उधर होती है। उसे कोई रास्ता नहीं मिलता और इस तरफ दीखता है कि 'अगर मैं इस के साथ जुड़ जाऊँ तो सफलता का या लोगों के सामने आ जाने का एक उपाय यहाँ से मिल सकता है और यहाँ से मुझे अभिव्यक्ति का एक माध्यम भी मिल जायगा और थोड़ी-बहुत प्रशंसा भी मिल जायेगी', तब इस समय तो यही हो रहा है। सम्भव है कि बाद में यह प्रभाव उस के चिन्तन पर भी पड़े—या इस से उलटा भी हो—लेकिन पहले सफलता पाने के लिए या कि लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए एक उपयोगी और तात्कालिक रास्ता उस को इधर दीखता है। कह सकते हैं कि यह तो उस के द्वारा एक परिस्थिति का उपयोग है और इस संगठन के द्वारा उस की प्रतिभा का उपयोग है। यह दो-तरफा दोहन तो हो रहा है। साहित्य के लिए यह कोई बहुत स्वस्थ स्थिति नहीं है, यह तो स्पष्ट है। स्वस्थ स्थिति वह होती है जिस में कुछ एक पत्रिकाएँ नहीं तो कम से कम एक पत्रिका ऐसी हो जिस का यह दावा हो कि साहित्य के अमुक मानदण्ड हैं—इस तरह का पत्र बहुत अधिक तो नहीं, लेकिन थोड़ा सा अनुदार तो होगा ही क्यों कि उस का प्रतिष्ठित परम्पराओं पर आग्रह करना है—एक ऐसी पत्रिका हो और लोग मानते हों कि यह प्रतिष्ठित पत्रिका है, और दूसरी तरफ अनेक छोटी छोटी पत्रिकाएँ ऐसी हों जो इस के विरुद्ध आग्रह कर रही हों कि नहीं, ये प्रतिमान अब पुराने पड़ गये हैं और हम उन को बदलना चाहिए और लगातार उस पर सब तरफ से छोटे मोटे आक्रमण भी करती रहें और ऐसी नयी रचनाएँ प्रस्तुत करती रहें जो उन के विद्रोह का समर्थन करें। साहित्य के लिए यह स्वस्थ स्थिति होती है कि एक तरफ प्रतिमान हों, प्रतिमानों का एक आग्रह हो, और उस के विरुद्ध अधैर्य भी हो। वह तनाव सर्जनात्मक होता है। जब वैसे प्रतिमान कोई रह ही नहीं और विरोध का हल्ला हो तब तो एक तरह की अराजकता होती है जो कि स्वस्थ नहीं है। वैसी अराजकता की स्थिति में हम आ गये थे। और उस में यह एक दूसरा अनुशासन आया है जो कि बाहर का अनुशासन है, राजनीति का अनुशासन है, जो इस परिस्थिति का उपयोग अपने राजनीतिक हित के लिए कर रहा है। यह तो स्वस्थ स्थिति नहीं है, वास्तविक स्थिति जरूर है। और अगर लोग समझ सकते हैं कि ऐसा हो रहा है तो नया लेखक भी शायद यह समझ सकता है कि उस का इस्तेमाल दूसरों के साहित्येतर उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है और उस के प्रति सतर्क हो

सकता है। लेकिन आज लोग जल्दी में तो रहते ही हैं और उन को जल्दी कुछ न कुछ परिणाम चाहिए। यह स्थिति तो है ही।

खालिस समाजशास्त्रीय कारण ज्यादा प्रमुख है बनिस्बत इस शुद्ध राजनीतिक कारण के? आप के उत्तर से ही इसी से लगा प्रश्न मेरे मन मे बन रहा है। वह यह कि क्या आप ऐसा नहीं समझते कि ज्यादा फलदायक या स्वस्थ जीवन दर्शन वह होगा जिस में कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में तो विकेन्द्रीकरण को स्वाभाविक मान लिया जाये, उस पर बल दिया जाये, लेकिन धर्म मे और साहित्य मे किसी सीमा तक केन्द्रीकृत होना सब से ज्यादा अच्छा हो?

विकेन्द्रीकरण को भी स्वाभाविक मानना कठिन है और केन्द्रीकरण भी एक सीमा तक ही है। दोनों ही प्रवृत्तियां समाज में काम करती रहनी चाहिए। एक केन्द्र का योग भी होना चाहिए और विकेन्द्रित काम के लिए गुंजाइश भी होनी चाहिए उस के लिए संघर्ष की भी गुंजाइश होनी चाहिए, संघर्ष भी होते रहना चाहिए। जैसा मैंने कहा, एक ऐसा पत्र हो या कहिए कि ऐसा प्रतिष्ठान भी हो जो प्रतिष्ठित मूल्यों पर आग्रह करे और दूसरी तरफ उस के विरुद्ध आन्दोलन भी हो अधैर्य भी हो। यानी एक केन्द्रीय प्रवृत्ति भी हो और एक विकेन्द्रीकरण का आग्रह भी हो। यह तो स्वस्थ स्थिति है। समाज में इस तनाव का रचनात्मक परिणाम होता है।

हां, ये दोनों प्रवृत्तियां साथ साथ चलनी ही चाहिए। क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि जो आप साहित्य के बारे में कह रहे हैं वही कहीं भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर, उस के आदर्श या यथार्थ पर लागू होता है?

हां यह भी है। हमारे समूचे इतिहास में यह चीज रही है। और इन के बीच में जो तनाव रहा है उस की रचनात्मक सम्भावनाएँ रही हैं।

उदाहरण के लिए जो कुछ स्वातन्त्र्य पूर्व युग में घटित हुआ, सत्याग्रह युग में या उस से पहले भी, क्या ऐसा नहीं लगता कि देश के मन में ही बहुत वास्तविक और स्वाभाविक कारणों से एक विभाजन था, बहुत ही सत्य, बहुत ही सच्चा—एक विविधता थी या कह लीजिए एक आतम विभाजन था। जीवन की नयी सम्भावनाएँ, रचनाशीलता, किसी को पश्चिम के नये चिन्तन की तरफ जाने में दिखाई देती थी—सिर्फ पश्चिम के तर्क से नहीं बल्कि समूचे संसार के तर्क से, प्रगति के तर्क से—और उसी मानस के अन्दर कहीं अपनी जड़ को पकड़ने की ओर वह न जाने की, अपने

सांस्कृतिक और आध्यात्मिक और धार्मिक मूल्यों पर जोर देने की जरूरत भी महसूस हो रही थी। तो क्या राजनीति में इस प्रकार का ध्रुवीकरण सम्भव था? कि जैसे एक नेहरूई पार्टी होती, एक गांधी वाली पार्टी होती जिन का स्पष्ट ध्रुवीकरण हो सकता—और इस ध्रुवीकरण से ही एक ऐसी राजनीतिक उथल-पुथल होती, हमारे मानस की जो वास्तविकता थी उसी के मुताबिक हमारी राजनीतिक गतिविधियाँ भी चलतीं और दलों का इतना बिखराव नहीं होता? मेरे कहने का मतलब यह है कि जो 'पार्लियामेंटरी डेमोक्रेसी' का एक 'माडल' हमने उठाया और सही कारणों से उठाया, इस के व्यवहार की भी तो नकल की जा सकती थी—कि दो पार्टियों से कैसे बढ़िया चलता है। तो वैसा क्यों नहीं हुआ होगा—या कि अब ऐसी कोई सम्भावना आप को दीखती है—इस नये सबक के बाद?

सम्भावना तो अब नये सबक के बाद दीखती है—लेकिन इस का सबक अभी कैसे कह जा सकते कि इस का प्रमाण नहीं है कि वह सीख लिया गया है। लेकिन संकेत तो उस का यही है कि यह चीज सीखनी होगी। तो अगर सीखे—जब जनता पार्टी का शासन हुआ तब भी एक अवसर था कि यह शिक्षा ग्रहण की जाती, लेकिन वह सबक नहीं सीखा गया—तो अब भी आशा की जा सकती है।

आप को ऐसा नहीं लगता कि गांधी जी के अलावा या गांधी जी के साथ-साथ और भी जो कुछ चिंतन राजनीति में सक्रिय लोगों ने किया पिछले पचास वर्षों में—लोहिया, अच्युत पटवर्धन, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण या एम० एन० राय भी, तो उन के विचारों का एक पुनर्मूल्यांकन जैसा करने की जरूरत है?

पुनर्मूल्यांकन करने की जरूरत है। उस को सन्दर्भ में रख कर देखने की भी जरूरत है। और विशेष रूप से यह जो केन्द्रीकरण का या केन्द्राभिमुखता का आग्रह था और जो केन्द्रविमुख या विकेन्द्रित स्वायत्त जीवन का आग्रह था, इन दोनों के बीच जिस तरह का संतुलन बना रहा—महाभारत के समय से ही देखें तो वही स्थिति रही कि एक तरफ आग्रह था कि एक शक्तिशाली केन्द्र होना चाहिए और दूसरी तरफ यह था कि जो विकेन्द्रित और स्वायत्त समाज हैं उन की स्वायत्तता भी बनी रहनी चाहिए। कृष्ण को अगर एक राजनीतिक कूटनीतिक व्यक्ति के रूप में देखें तो भी यह स्पष्ट होता है कि वह भी यही कर रहे थे—एक तरफ समाज में केन्द्रीकरण भी कर रहे थे और दूसरी तरफ ऐसी स्थितियाँ से

बच भी रहे थे जिन में कि टकराहट हो। भारत के इतिहास में सब से रचनात्मक प्रभाव इसी चीज का रहा है कि इन दो के बीच जो तनाव है उस का सही उपयोग किया जाय और इस तनाव को मिटा कर किसी एक पक्ष की सम्पूर्ण विजय न होने दी जाय।

मेरा ख्याल है यह सही बात है।

तो आप की इस बात से मैं यह अर्थ ग्रहण करूँ कि न केवल हमारे निकट इतिहास के अनुभव का ग्रहण और मूल्यांकन बल्कि इतिहास या साहित्य का भी बहुत तात्कालिक सन्दर्भों में और बड़ी निपट सांस्कृतिक आवश्यकता की प्रेरणा से अध्ययन होना चाहिए? —न केवल निकट इतिहास का बल्कि जिसे हम 'मिथ' कहते हैं उस का भी?

हाँ उस स्तर तक हो सकता है। और उस में यही पायेंगे कि एक तरफ इस में अनेक केन्द्रीय समाज और संसार की कल्पना है और उस का सफल व्यवहार है और दूसरी तरफ यह आग्रह है कि सब कुछ एक है और एक ही केन्द्र है। और इन दोनों का सहज सन्तुलन यहाँ निभता चला गया है। इसी को मैं समझता हूँ कि हमारी प्रतिभा की विशेष देन भी मानना चाहिए।

क्या कभी-कभी एक बात विचित्र-सी नहीं लगती? कभी भारत ने जहाँ से शुरू किया और आगे बढ़ा, और उधर पश्चिम ने जहाँ से शुरू किया और आगे बढ़ा—ये दो बिलकुल विपरीत दिशाएँ और गतियाँ थीं। आज का सब से बच्चा 'सायंस', सब से हाल का 'सायंस' यह पर्यावरण विज्ञान है, इसे देखें, या 'एंथ्रोपालाजी' (नृतत्व) को देखें—विज्ञान अपने निष्कर्षों से हमें उस किस्म के बोध या संवेदन की ओर ले जाते हुए प्रतीत होता है जिस की ओर भारत का 'मिथिक माइंड' शुरू से ही संकेत करता रहा?

जहाँ से हमने आरम्भ किया था? ऐसा कह लीजिए। एक व्यापक परस्पर निर्भरता का बोध फिर हो रहा है—बिल्कुल दूसरे कारणों से।

तो कहीं इस का भयंकर परिणाम यह तो नहीं निकलता कि अगर ऐसा है तो यह ऐतिहासिक नियम है, अनिवार्यता है, कि अब वे तो इधर रह आयें, स्वस्थ हों, और हमें उन की पूरी इतिहास प्रक्रिया में से गुजरना पड़े, जो उन्होंने भोगा है वह हम भुगतें?

नहीं यह परिणाम तो नहीं निकलता। लेकिन जो समस्या या कि शंका हो सकती है वह यह कि अगर उन की संस्कृति अभी तक प्राणवान संस्कृति है तब वह इस नयी स्थिति को देख कर, इस जोखम को उठा कर अपने

लिए नया रास्ता बनायगी जो कि उसी सस्कृति का नया रास्ता होगा लेकिन अगर उसम एसी प्राणवत्ता नही रही है और आत्म विश्वास खो कर वह एक पराया रास्ता अपनाती है, चाहे हमारा ही रास्ता—जैसा कि हम भी कर रहे है, आत्म विश्वास खो कर उन के रास्त पर चल रहे है—तब जरूर एक खतरनाक स्थिति होगी। लेकिन अगर हम म भी यह पहचान जागती है कि हमारा रास्ता गलत नही था, कि कोई कारण नही है कि हम आत्म विश्वास खो बैठ और एमा रास्ता अपनाये जिस की गवाही हमारा अनुभव नही दता, या अगर हम रास्ता बदलें भी तो इसी कारण बदलें कि वह हमारा नया रास्ता है तब तो इस म कोई जोखम नही है। इस की सम्भावनाएँ तो एक ऐसे साक्षात्कार की भी है जिस में दोनो के लिए नयी दृष्टि मिल सकती है।

लेकिन फिर जो विश्व सस्कृति का स्वप्न दिखाया जाता है उस मे तो यह एक तरह से अनिवाय मान लिया जाता है कि अत्यन्त विरोधी स्वभाव की सस्कृतियो मे भी, अत्यन्त भिन्न प्रस्थान बिन्दुओ से परस्पर प्रेरित सस्कृतियो का भी परस्पर पास आना और अन्तत एक हो जाना अनिवाय है, और 'विश्व सभ्यता', 'विश्व सस्कृति' जसी कोई एक चीज इसी तरह निर्मित होगी। तो आप यह मानते हैं कि ऐसा भी तभी होगा जब कि ये दोनो सस्कृतिया अपने-अपने तक और अपने भीतरी तक से ही अपना माग दूढेंगी?

हां। अपन अनुभव को जीत हुए और अनुभव के सहारे जीते हुए व इस तरह के एकीकरण की ओर बढती है तो ठीक है। यह सारा जितना जसा विकास हो रहा है, उस स कई समाज एक दूसरे के निकटतर आ रहे है, प्रभावो का एक दबाव भी पड रहा है, उस की तजी भी बढती जा रही है। और इन सभ्यताओ म जो प्राणवान् है वे प्रभावो को बडी आसानी से ग्रहण कर के अपना बना लेती है। और जिन म प्राण कम है, जो कि कम ही मुरझा रही थी, लगभग मर रही थी, वे बिल्कुल आत्म समपण कर के दूसरे म डूब जाती है खो जाती है।

एक दृष्टि से, बडे विचलित करने वाले यथाथ की दृष्टि से, यह लगता है और इस की अनदेखी करना सम्भव नहीं है, कि किन्हीं मानों मे अमेरिका का जसे भारतीयकरण हो रहा है योग वगरह के जरिये, उसी तरह से भारत का अमेरिकीकरण हो रहा है। एक सब से जवान देश जिस की सभ्यता सब से ताजी या कि हाल की है, और एक सब से बूढा या कि पुराना देश? तो यह मूल्यो की या प्रभाव की अदला-बदली है, यह एक तरह का 'सिम्प्टोमटिक' कलि बडा

साफ-सा दिखाई देता है। तो 'सिम्प्टम्स'—क्या आप नहीं मानते कि भारतीय समाज में ये बड़े 'डिस्टर्बिंग सिम्प्टम्स' हैं, जिस तरह की नव धनाढ्यता है और यह टी० वी० कल्चर के प्रति जो पिछले पांच एक वर्षों से आकर्षण

यह जो हमारे समाज में है वह ज्यादा डिस्टर्बिंग है। आपने जो तुलना की, उस में जो अन्तर है उस का भी ध्यान में रखिए। वहाँ पर जिन लक्षणों की ओर आपने ध्यान दिलाया वे सब तरह-तरह की टटोल हैं। समाज में छोटे छोटे अंश हैं जो कि असन्तोष के कारण कुछ टटोल रहे हैं। संस्कृति की मुख्य धारा उधर जा रही है, ऐसा नहीं है। यानी यह नहीं कह सकते कि अमरीकी सभ्यता एक अनुकरण की ओर बढ़ रही है। यही है कि उस के भीतर चिन्ता करने वाले कई पक्ष हैं। यहाँ पर भारत में जो मुख्य धारा है और यह भी कह सकते हैं कि जिस को सरकार का भी अनुमोदन प्राप्त है वही अनुकरण की ओर प्रवृत्त है जब कि जो छोटे छोटे टोह लेने वाले दल हैं वे इस के प्रतिकूल हैं। तो इस समय स्थिति यह है कि मुख्य सभ्यता तो अनुकरण की है और उस के भीतर छोटे छोटे दल हैं जो अपनी पहचान करने का प्रयास करना चाहते हैं।

मैं समझता हूँ कि आप का यह विश्लेषण बहुत सही है। पर तब तो यह और भी विचलित करने वाला है।

हाँ। चिन्ता की बात यही है।

तब इस का मतलब यह हुआ कि इस चिन्ता का रूप तो इतना भयावह बनता है, जैसा कि हम देख रहे हैं। एक बहुत छोटा-सा उदाहरण अभी दो-तीन साल के अन्दर यह टेलीविजन नेटवर्क इतनी तेजी से फैला है, लेकिन अभी से इस के परिणाम जो हम अपने सामने सामान्य अनुभव से, निरीक्षण से देख रहे हैं, तो ऐसा लगता है कि जिसे 'रजिस्टेंस', प्रतिरोध कहते हैं वह तो है ही नहीं। बल्कि जो प्रभाव सांस्कृतिक दृष्टि से जितना ही खराब होता है हम उस के प्रति शायद उतने ही ग्रस्य हैं।

हाँ देखिए टेलीविजन का नेटवर्क जितनी तेजी से फैला है जिस तरह से फैलाया गया है उस में यह तो स्पष्ट था कि केन्द्र की एक आवाज ज्यादा से ज्यादा दूर तक पहुँचायी जा सके, इसी का प्रयत्न था। और उस के जवाब में दूसरी तरफ से आने वाली आवाज को कम से कम मौका मिले। तो यह तो एक तरह से देश की आवाज को बन्द कर देने का एक साधन बन जाता है टी० वी०। दूसरी तरफ इस बात की ओर तो बिल्कुल ध्यान नहीं था कि यह एक नयी कला है इस का विकास होना चाहिए। और

अब क्यों कि यह रास्ता इतना खुल गया है, ऐसा प्रशस्त हो गया है—सिर्फ एक तरफ की आवाज़ दूसरी तरफ पहुँचाने का—इस लिए भीतर से उस का सुधारने या कला का विकास करने, जनमात्र के जीवन को एक नयी अभिव्यक्ति देने और जन की आवाज़ दूसरे जन तक पहुँचाने की जो सम्भावनाएँ इस से खुलनी थीं वे तो और भी उपेक्षित हो गयी हैं। यह तो हुआ ही है।

सही बात है। फिर इस का मतलब यह हुआ कि हमें सांस्कृतिक दृष्टि से भी, राजनीतिक दृष्टि से भी, बिगड़ने का, आत्महीन हो जाने का खतरा कोई बाहर से नहीं है, अपने ही भीतर से है। और उद्धारक तत्त्व या कि प्रतिरोध पैदा करने सकने वाला तत्त्व जो है उस के लिए तो फिर सब से बड़ा उपाय विपक्ष का या कि वैकल्पिक राजनीति का ही जागरण है?

वही है। विकल्प तो वही है। बाहर से जो प्रभाव हैं वे तो होते ही हैं। समर्थ का प्रभाव कम समर्थ पर हो यह तो स्वाभाविक प्रक्रिया है ही। लेकिन भीतर से तो विकल्प की सम्भावना है। तो जहाँ विकल्प है वहाँ गलत चीज़ न चुनी जाय सही चीज़ चुनी जाय इस की सम्भावना भी है और इस की ज़रूरत भी है।

क्यों कि जब सत्ता के लोग—टी० वी० का ही आपने उदाहरण दिया, बड़ा शिक्षाप्रद और तात्कालिक प्रत्यक्ष उदाहरण है यह—सत्ता के लोगों के द्वारा सत्ता का ऐसा दुरुपयोग किया जा सकता है और समाज में कोई नहीं समझता कि यह सत्ता का दुरुपयोग है और इस से क्या उस की सांस्कृतिक-आध्यात्मिक हानि हो रही है, उस का व्यक्तित्व कितना दुर्बल बनाया जा रहा है या उस का इस्तेमाल, शोषण जैसा किया जा रहा है—आध्यात्मिक शोषण। तो आखिर यह उस को कौन बतायेगा, इस 'वल्नरेबुल' समाज को, कि उस का शोषण हो रहा है जो कि महज़ आर्थिक शोषण से भी ज़्यादा भयंकर चीज़ है और जो अगर चलता रहा तो अपने आर्थिक शोषण की भी उस की समझ कुंद हो जायेगी। इस का तो निश्चय ही जवाब जो है वह सांस्कृतिक, साहित्यिक उपायों के साथ-साथ और उन से कहीं ज़्यादा भीतर से इस को एक नयी राजनीतिक जागृति के द्वारा ही दिया जा सकता है।

राजनीतिक ही नहीं, एक सामाजिक चेतना भी बढ़नी चाहिए, होनी चाहिए।

मुश्किल यही है कि पहले हमारे समाज में धर्म का जो प्रभाव था

वह आज राजनीतिक का हो गया है। इस लिए सामाजिक जागति के लिए भी एक तरह की राजनीतिक जागति की पहल आवश्यक हो गयी है। आपने देखा होगा कि धम और अध्यात्म के क्षेत्र में भी आज हिन्दुस्तान मे ही जो असली है उस के प्रति सवेदनशीलता या श्रद्धा नहीं रह गयी है जितनी कि उस की जो कि नक्ली है या जिस का प्रदशन-मूल्य ज्यादा है। अब एक भयानक बात यह तो हुई हो है पिछले वर्षों मे, कि समाज को जगाने का जो एक मुख्य माध्यम था धार्मिक या आध्यात्मिक व्यक्तित्व या बोध, वह स्वय भी तो दुबल हो रहा है। *या क्या आप ऐसा नहीं मानते हैं ?*

वह दुवल है और यह तो जो बात आपने कही है वह ठीक ही है उदा हरण के लिए जितने बडे से बडे धार्मिक सम्मेलन होते हैं सब के उदघाटन के लिए अथवा वहाँ मूल्यो की चर्चा के लिए राजनीतिक व्यक्ति को बुलाया जाता है और जिन से धार्मिक प्रेरणा मिल सकती वे वहा पर उपे क्षित हो जाते है। यह तो है। लेकिन यह तो जो स्थिति म है उस का केवल एक प्रकटीकरण है, इस म वैसी स्थिति पैदा हो जायगी यह नही है। क्या कि स्थिति ऐसी है, उस का यह लक्षण हम दिख रहा है। राजनीति क्या कि प्रदशनमूलक है और धम बिल्कुल जरूरी नही है कि प्रदशनमूलक हो, इस लिए पहल तो इस प्रदशन को ही अभाय कर सके यह सम्भावना हमे पैदा करनी चाहिए। धम तो यह बात नही मानता कि कोई चीज क्या कि दीखती है इस लिए सच है। इसी बात को पहले तो काटना चाहिए।

आप के चिन्तन मे एकाधिक बार यह तथ्य या यह सकेत उभर कर आया है कि यहा भारत मे बुद्धिजीवी की वह भूमिका या वह परि भाषा अभी मान्य नहीं हुई है जिसे कि पश्चिम मे 'इन्टेलिजेंशिया' कहा गया है और जिस का वास्तव मे कुछ दबाव, कुछ प्रभाव समाज पर, राजनीति पर, साहित्य पर पडता है। वह एक शक्ति है। तो उस तरह की बात जब आपने लिखी थी तब से आज तक आप क्या समझते है कि भारत मे बुद्धिजीवी वग का वसा कुछ विकास या कि मूल्य उभरना शुरू हुआ है ? या क्या उम्मीद की जा सक्ती है इस 'इंटेलिजेंशिया' से भारत मे ?

अभी तो एमा हुआ नही लगता है। अभी तो उस की पराधीनता या पर निभरता ही कुछ बढी है। इस लिए उस का स्वर स्वाधीन चेतना का स्वर हो ऐसा तो नही है। और इस तरफ अभी कुछ विशेष उन्नति भी नही हुई है।

तब तो यह और भी निराशाजनक स्थिति है जब धार्मिक 'अथारिटी' के स्रोत पहले की अपेक्षा सूख गये हैं या विकृत हो रहे हैं, और राजनीतिक 'अथारिटी' के स्रोत तो अप्रामाणिक या विकृत हैं ही। तब जो एक तीसरी चीज़ प्रेरणादायक हो सकती या जो इस भ्रंश को प्रतिरोध दे सकती वह तो फिर अनिवार्य रूप से एक बुद्धिजीवी वर्ग का उदय ही हो सकती थी। वही एक विकल्प हो सकता था। जनता को हम किस लिए ज़िम्मेदार ठहरायेंगे ? मान लीजिए कि यूरोप की तुलना में हिन्दुस्तान का मध्यम वर्ग अगर ज़्यादा प्रलोभनग्रस्त है या प्रलोभनों के सामने कमज़ोर है, उस में आन्तरिक प्रतिरोध कम दिखाई देता है, तो उस के इस भ्रंश के लिए ज़िम्मेदारी फिर कहीं न कहीं बुद्धिजीवी वर्ग पर ही आती है।

तीसरी सम्भावना तो यही है। अगर यहां धर्म संस्थान का वह स्थान नहीं है—और यहां इस देश में उस तरह का धर्म-संगठन रहा भी नहीं है जैसा कि पश्चिम में हुआ क्या कि धर्म भी मतवाद केन्द्रित धर्म नहीं था—यह तो मैं उस की प्रशंसा ही कर रहा हूँ, लेकिन तथ्य यही है कि यहां ऐसा नहीं है—तो यह ठीक है कि तीसरी सम्भावना फिर एक विवेकवान् वर्ग से यानी बुद्धिजीवी वर्ग से हो सकती है।

लेकिन मुश्किल यह है कि ऐसी परम्परा में जैसी भारत की परम्परा है, जो कि यूरोप से स्पष्टतः अलग परिभाषित की जा सकती है, उस में ऐसा सीधा प्रभाव डाल सकने वाला, हस्तक्षेप कर सकने वाला बुद्धिजीवी वर्ग तो उस तरह से मान्य नहीं होता—यानी उस अर्थ में 'इंटेलिजेंशिया' ही नहीं होता, क्यों कि मान्यता प्राप्त होने पर ही किसी का अस्तित्व एक तरह से जायज़ और संगत होता है। तब फिर मान लीजिए हमारी जनता में कोई सच्चे बुद्धिजीवी हैं भी, आप की परिभाषा से निकलते भी हैं, तो समाज से उन को मान्यता प्राप्त नहीं होगी। फिर क्या यह भी एक जटिल परिस्थिति नहीं है कि किसी समाज को किसी हद तक बुद्धिजीवी की ज़रूरत ही महसूस न हो ? आप देखिए कि कवि भी एक तरह का बुद्धिजीवी है पश्चिम के मुताबिक, लेकिन जो अपने युग के सब से समर्थ, सब से संवेदनशील कवि कहे जा सकते हैं, या जिन्हें आज के भी समर्थ कवि कहा जा सकता है, उन को कविता के प्रति एकाएक वैसी दिलचस्पी या ऐसी जिज्ञासा अमूमन अब पढ़े लिखे लोगों को नहीं होती। अभी कल मैं रेडियो पर कवि-सम्मेलन में बैठा हुआ था, सभी खासे पढ़े लिखे लोग वहां थे, और मुझे ऐसा लगा कि

उन मे मुश्किल से पाच प्रतिशत भी ऐसे होगे जो कि उस कविता को पढते हो जिस मे वह बौद्धिक ऊर्जा है, जो भारत के जन मानस का प्रतिनिधित्व करती हो—और जो कविता के स्तर पर भी यानी 'एस्थेटिक' मानदडो पर भी खरी हो।

यह तो फिर आपने जो उदाहरण लिया है वही गलत जगह से लिया है, गलत चुनाव पर आधारित है। रेडियो कवि सम्मेलन से आप ऐसी आशा करें क्यो ? लेकिन मैंने तो देखा है कि इस देश मे अभी तक कवि के प्रति एक तरह की आस्था है। इस लिए मैं सोचता हूँ कि यह सम्भावना तो अभी है कि कवि प्रबुद्ध वर्ग का प्रतिनिधि बन सके। अभी यह सम्भावना मिटी नही है। हा आज की वास्तविक स्थिति ऐसी नही है।

यह तो मैं कहना चाहता था कि कवि के प्रति, कवि रूपी 'इंटेलिजेंशिया' के प्रति, आज भी समाज सवेदनशील है। हालाकि यह भी है कि पिछले चालीस पचास वर्षों मे हमारी कविता मे अनिवार्य कारणो से जो बौद्धिक सस्कार आया है उस के प्रति अभी 'रजिस्टेंस' है, यह मै कहना चाहता था। अभी उस कविता को स्वाभाविक तौर पर स्वीकार लिया गया हो, उस का सन्देश पढ लिया गया हो, सुन लिया गया हो—ऐसा अभी नहीं लगता है।

हा लेकिन यह मान भी ले कि ऐसा अभी नही हुआ तो भी यह तो है कि कवि के प्रति एक उन्मुखता है।

उस का कारण तो सस्कार मे है।

वही सही। लेकिन वह आशा का एक केन्द्र तो है।

क्यो कि जन मानस को धार्मिक-आध्यात्मिक बातें भी, उपलब्धियाँ भी काव्य के जरिये ही 'रिसीव' करने का ही अभ्यास रहा है। इस लिए यह 'पाजिटिव' बात तो है। लेकिन आधुनिक शास्त्रों के भीतर से आने वाले बुद्धिजीवी मे और साहित्यिक बुद्धिजीवियों मे भी कुछ आमना-सामना हो—लेकिन वह तो है ही नहा।

शमशेर का गलत जगह पर रख कर यह नही कहूँगा कि 'जो नही है उस का गम क्या ?' पर साहित्यिक बुद्धिजीवी' और शास्त्रीय बुद्धिजीवी' जैसा भ्रामक विभाजन हम क्या स्वीकार करें ? कवि किसी भी विद्यानुशासन से आ सकता है—हाँ कुछ उस से बाहर के भी होगे। (हिन्दी मे साहित्य कारो मे दूसरी विद्याओ मे दीक्षित लोगो का अनुपात कुछ कम है, पर कुल मिला कर तो ऐसे लोग बढ रहे हैं जो दूसरे क्षेत्रो मे निष्णात हो कर साहित्य रचना मे आते है।) पर फिर सभी की बौद्धिकता का हम एक स्तर पर तो नही रखते। पश्चिम मे तो पेशेवर सभी लोग इटेलिजेंशिया

मे आ जाते हैं। यहाँ, उदाहरण के लिए वकील के बारे मे हम थोडे सतर्क रहते हैं। मैं जो कभी कभी 'बुद्धिजीवी' और 'बौद्धिक' मे भेद करता हूँ वह इसी लिए। जिस सस्कारिता की बात आपने कही, उस मे भी बुद्धि से आजीविका कमाने वाले आदमी की वह प्रतिष्ठा नही थी जो कवि की या अध्यापक की—पुरानी परिपाटी का अध्यापक विद्या दान की बात करता था, वेतन या फीस नही लेता था। मैं इस बात को यो कहना चाहता हूँ कि बौद्धिक या प्रबुद्धचेता व्यक्ति की प्रतिष्ठा का—उस मे और निरे बुद्धिजीवी मे अन्तर का—एक आधार यह भी रहा कि 'बुद्धिजीवी' वह जो बुद्धि के सहारे समाज का दुहे (चाहे मर्यादाओ का निबाहते हुए ही दुहे), और 'बौद्धिक' वह जो समाज को कुछ दे, समाज के लिए कुछ छोडे। बौद्धिकता की कसौटियो मे इस निस्पृहता को भी जोडना, जोडे रखना मेरी समझ मे गलत तो नही था। यदि आज का पढा लिखा समाज यही मानता है कि 'बिना स्वार्थ के कोई कुछ नही करता, और अगर किसी का स्वार्थ दीख नही रहा तो उस से और अधिक चौकन्ने रहो', तो यह समाज का दुर्भाग्य ही है, यथार्थवादिता नही है। यथार्थ यह है कि आज भी मानव को आदर्श ललकारते है भाव विगलित भी करते हैं और प्रेरणा भी देते है—समूह को भी और इकाइयो को भी। ऐसे लोग बहुत थोडे दीखते है, और कम भी होते जा रहे हैं इस लक्ष्य कीजिए और दुखी होइए, जरूर होइये—पर वह जो छोटी सी ज्योति है उस भी अनदेखा क्यो कीजिए? बल्कि जब तक वह है तभी तक तो बौद्धिक के लिए भी करने को कुछ है, तभी तो बौद्धिक भी आप को दीखेगा—नही तो टोटल अन्धकार मे वह भी कहाँ है?*

* डॉ० रमेशचन्द्र शाह और अज्ञेय के बीच यह सवाद मार्च १९८२ मे दिल्ली मे हुआ। टेप की प्रतिलिपि को प्रकाशनीय रूप देने के लिए उस का किंचित् सम्पादन अज्ञेय द्वारा किया गया।

व्यक्ति, दु ख, आस्था, आत्मालोचन

राजी सेठ से दो सवाद

१

राजी सेठ इतने समय से आप लेखन में हैं। ऐसे साक्षात्कार की स्थिति बार-बार आती है तो इस के बारे में आप की क्या प्रतिक्रिया है? क्या उपयोगिता आप समझते हैं इस की?

अज्ञेय उपयोगिता तो हो सकती है। लेखन के साथ उपयोगिता लेखन सम्बन्धी प्रश्नों की हो सकती है। बाकी तो प्रश्न पर निर्भर करता है कि क्या उपयोगी होगा।

पर यह भी तो है न कि प्रश्नकर्ता की जो मूल मंशा है वह उधेड़ने की है या जोड़ने की या सवाल को निकलवाने की या रखने की। उस से भी ये सारी चीजें ज्यादा प्रभावित होती हैं।

उस से भी होती है। उस की एक उपयोगिता यह है कि अगर लेखक के बारे में कुछ नहीं मिलता तो प्रश्नकर्ता के बारे में कुछ मिल जाता है!

प्रश्नकर्ता तो साक्षात्कार में 'इम्पार्टेंट' नहीं है। मूल तो यह है कि आप के बारे में जाना या सुना जाये।

यह है तब तो उपयोगी होगा।

नहीं तो नहीं होगा? अच्छा, यह नहीं लगता कि बार-बार यह स्थिति आती है, अपने बारे में इतना ज्यादा कहना पड़ता है, तो उस में अपने ही कथनों के विरुद्ध जाने का खतरा ज्यादा रहता है?

वह खतरा है और अगर है तो उस खतरे का सामना करना चाहिए। यह भी तो है कि बहुत-से प्रश्न सामने आते हैं जो हो सकता है लेखक ने पहले टाल दिये हों या जिन पर विचार न किया हो। अगर विचार करने को बाध्य होता है तो उस में कोई दोष भी नहीं है।

उस का एक रूप यह भी तो हो सकता है कि आज हम जो सोचते हैं कल न सोचते हों उस बारे में! इस तरह का विरोध

यह तो कोई विरोध नहीं है। यह तो आशा करनी चाहिए कि आज जो सोचते हैं उस में से बहुत सा कल नहीं सोचेंगे!

मतलब उस को आप एक विकास की क्रिया के तहत रखेंगे?

नहीं। जो खतरा उस में हो सकता है वह बिल्कुल दूसरा है। मेरे जैसे

आदमी के लिए शायद ज्यादा है। जो या भी अपने बारे में और अपने लेखन के बारे में बहुत सोचता है उस के लिए एक खतरा यह है कि उसमें अपने सोचने के बारे में ही एक आत्म चेतन भाव आ जाय जो लेखक के लिए आवश्यक नहीं है।

अच्छा, इस सवाल को हम दूसरी तरह से देखें। तो यह जो 'कंसिस्टेंसी' है मूल्यों के बारे में, आदर्शों के बारे में, विचारों के बारे में, उस का जो स्तर है वह एक तरह से काफी सधा हुआ है, यानी उन प्रश्नों का जवाब हमें हर रचना में, हर रूप में, उस में गढ़े हुए हर पात्र में, हर स्थिति में बार-बार मिल जाता है।

मैं सोचता हूँ कि यह आशा करनी चाहिए कि मूल्य-सम्बन्धी बहुत से प्रश्नों का जवाब तो सधा हुआ होना चाहिए काफी पहले से, लेकिन उस में अगर संशोधन कुछ होता है तो वह भी हो सकना चाहिए। लेकिन बुनियादी तौर पर कुछ चीजों के बारे में तो पहले से एक स्पष्ट संकेत मिलना चाहिए। उस को मैं अच्छा ही समझूँगा। अगर नहीं मिलता है तो दोष है।

पर यह जो मूल्यों की चर्चा बार-बार आयी है आप के लेखन में हर तरह से उस को आपने हमेशा इस रूप में प्रस्तुत किया है जैसे हमारा जो इस वक्त का जीवन यथार्थ है उस से ऊपर कहीं उस की जगह है। तो इस की अनिवार्यता को आप क्यों महसूस करते हैं कि हमेशा मूल्य जो हैं वे जीवन के यथार्थ से आगे की चीज हैं?

नहीं। मैं यथार्थ के अर्थ को भी विकसित करता हूँ जब मूल्यों की चर्चा करता हूँ, क्या कि उस को यथार्थ से बाहर या उस के प्रतिपक्ष में नहीं रखता। अगर हम कहते हैं कि यह सक्रान्ति का युग है या कि परिस्थितियाँ बदल रही हैं और मूल्य बदल रहे हैं तो इस बात का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए भी जानना जरूरी हो जाता है कि क्या मूल्य थे और उन के बदले में कौन से नये मूल्य आ रहे हैं उन का आधार क्या है। और अगर कोई नहीं आ रहे हैं तो भी कौन से पुराने मूल्य थे जो कि नष्ट हो रहे हैं और उस का क्या कारण है। इस लिए जैसे ही हम यह कहते हैं कि सक्रमण हो रहा है या चीजें बदल रही हैं वैसे ही यह सवाल जरूरी हो जाता है कि क्या है जो बदल रहा है।

तो उस का कोई ऐसा परिभाषित रंग-रूप तो नहीं देखा जा सकता। समाज और व्यक्ति के 'इंटर एक्शन' के रूप में ही कुछ मूल्यों को घटित होते देखा जा सकता है। मतलब हम किसी चीज को ले कर यह नहीं कह सकते कि हम इस निश्चित मूल्य की तरफ

जायें। अंतत उस को जीवन सत्य से

मूल्य पहले से दिये हुए है या अलग रखे हुए हैं ऐसा तो नही। लेकिन एक अर्थ मे दिये हुए ह, क्यो कि पूरा एक जो समाज का संस्कार ह, उस का जो इतिहास और उस की जो आत्म चेतना है उस म तो मूल्यो की एक चेतना है। यह हो सकता है कि हम उस के बारे म सजग न हो, लेकिन अगर चेतन रूप से उस पर विचार करते है तो दिखेगा कि हमारे समाज म ये मूल्य रहे। कोई भी समाज कोई न कोई मूल्य मान कर जीता है। अगर वह यही मान लेता है कि सब कुछ बदल रहा है इस लिए टिकाऊ मूल्य कोई नहीहै, तो यह भी एक पूरी जीवन-दृष्टि है जिस को मूल्य कह सकते हैं।

पर आप को यह नहीं लगता कि पश्चिम मे एक तरह का कलात्मक समाज होता है या जिन की मानसिकता कुछ ज्यादा विकसित होती है। आदर्शों और मूल्यो की बात या उस की चर्चा से उन का ज्यादा नजदीकी सरोकार होता है बजाय इस के कि सामान्य जन के बीच हम इस तरह की किसी चेतना को समझ सकें या देख सकें। और यह उस का भी परिणाम हो सकता है।

यह तो एक तरह से स्वयसिद्ध बात है। जीवन के बाहरी प्रयोजन ही जिन के लिए प्रधान है वे भीतर जड मे जा कर नही देखते हैं, और भीतर जिन का ध्यान है या जिन का सवेदन ऐसा है कि उस की तरफ ध्यान दिये बिना नही रह सकते, वे यह भी सोचते है कि हमारे जो य प्रयोजन हैं उन के औचित्य को हम किसी कसौटी पर परखते रहे।

कहीं आपने यह बात लिखी है कि मूल्यो मे निष्ठा तो पहले भी थी और अब भी है, लेकिन मूल्यो के विघटन का ऐसा तीखा बोध पहले नहीं था, अब है। यह बात आपने बार-बार 'पाइट आउट' की है। जब यह अहसास मन में हो जाता है तो क्या आप को यह लगता है कि इस के साथ रचनाकार की भूमिका कुछ बदल जाती है या रचनाकार की भूमिका बदल जानी चाहिए ?

नही। जहाँ तक इन के प्रति सजग रहने का प्रश्न ह, वहा तक तो नही बदलती। अगर वह सवेदनशील या ग्रहणशील यन्त्र है तो वह ग्रहण करता है, यही है कि उस का ज्यादा तेज परिवर्तनो की ओर ध्यान देना पडता है। पहले के समाज काफी स्थायी थे, जो सस्थान था ज्यादा टिकाऊ था, चीजें बदलती तो थी, पर अपेक्षया धीरे बदलती थी और लगातार ऐसा नही लगता था कि हम सकटग्रस्त हैं। आज-कल चीजें ज्यादा तेजी से बदलती हैं और यह भी लगता है कि जब तक हम एक चीज को पहचान

पर अपनायेंगे कि यह मूल्य है तब तक उन के आधार बदल गये होंगे। इस लिए एक दूसरी तरह से संकट का बोध होता है। यह तो परिवर्तन की गति पर आधारित है। यह नहीं है कि मूल्य नहीं हैं, यही है कि जिस मरयान के साथ जुड़ते हैं यह इतनी तेजी से टूटता और बदलता है कि एक नयी तरह की सनकता की आवश्यकता होती है।

अच्छा, अब कविता के बारे में यह बताइये कि जो कविता के क्षेत्र हैं या जो कविता को एक मुख्य विधा के रूप में रखते हैं उन में एक खास तरह का श्रेष्ठता-बोध होता है जैसे नरेश मेहता तो यहाँ तक लिखते हैं कि यह कहानी या इस प्रकार के 'रिफ्लेक्टिव' साहित्य को पढ़ना भी पसन्द नहीं करते। इस का क्या कारण है? क्या यह समझा जाये कि कविता सब से ज्यादा पर्याप्त विधा है अपने आप को व्यक्त करने की?

श्रेष्ठता-बोध की बात मैं तो नहीं मानता।

आप नहीं मानते, पर यह बात मानी तो जाती है। क्यों कि आपने लगभग हर विधा में लिखा है,—यात्रा विवरण से ले कर—

यह भी कारण नहीं है कि मैंने ऐसा किया है, न भी किया होता तो भी यह न समझता। लेकिन यह जरूर सोचता हूँ कि काव्य में बहुत-सा जो अनावश्यक है अप्रासंगिक है उस को छोड़ कर जो मतलब की बात है उसी तक सीमित रहा जा सकता है, उसी पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है—अपेक्षया अधिक गहराई से और कुछ कम विस्तार में। तो इस लिए सच के निकटतर जाने की या अनावश्यक बातों में न बहकने की सम्भावना कविता के साथ अधिक है।

यह तो किसी भी विधा में हो सकती है अगर उस के 'फ्रेमवर्क' में काम किया जाये

इस को यों भी कह सकता हूँ कि कविता में कोई बात दस पन्द्रह पंक्तियों में कही जा सकती है जो—यह नहीं कि उपन्यास में कही नहीं जा सकती है—लेकिन सम्भव है कि—

नहीं कही जा सकती वैसे तो।

और उस के साथ बहुत कुछ ऐसा भी कहना पड़ता है जो कि वास्तव में अनावश्यक है लेकिन उसी सन्दर्भ में रख कर वही दस पंक्तियों वाली सच्चाई सामने लायी जा सकती है। यह भी कह सकते हैं कि ज्यादा सघन रूप में बात काव्य में कही जा सकती है।

क्या कभी आप को ऐसा लगा है, किसी कविता के बारे में ऐसा लगा है, कि इस को किसी दूसरी विधा में कहना था या किसी

दूसरी विधा मे जो कहा है उसी को कविता मे कहा गया है ? इस तरह की कोई 'इंटर रिलेशनशिप' महसूस की है आपने ?

इस तरह की बात दूसरे दर्जे की कविता के बारे म ही कही जा सकती है जिस म कि आप जो 'कविता मे कहा गया है' उस को आप जो 'कविता है' उस से अलग कर सकें, नही तो जो कहा गया है जैसे कहा गया है, जो भी आकार प्रकार है, वह सब एक इकाई होता है।

यह आप की शुद्ध कविता की 'स्टेटमेंट' हुई। शुद्ध कवि ऐसा कहता है, दूसरा आदमी ऐसा नहीं कह सकता।

एक यह कि कविता मे 'वैयक्तिक मैं' और 'निर्वैयक्तिक मैं' इन मे क्या भेद करेंगे आप—'पर्सनल आइ' और 'इम्पर्सनल आइ'।

इस का जवाब देने की कोशिश भी करने से पहले कहूँ कि समाज भी एक तो वह समाज है जिस को मैं पहचानता हूँ यानी जिसे व्यक्ति रूपी इकाई पहचानती है इस लिए वह उस का समाज है। और एक समाज वह है जिस को कोई ऐसी इकाई पहचाने या न पहचाने फिर भी है, यानी समाज भी एक विषयी पर आश्रित है और एक विषयी निरपेक्ष समाज है। उसी तरह व्यक्ति के भी दो रूप हैं।

जिस के बीच से निकलता है यह ?

ये दोनो बातें जुड़ी हुई है, एक से अलग कर के दूसरी बात कुछ विकृत भी हो जा सकती है। और व्यक्ति विषयी तो है ही। विषय अलग होता है। बाहर से देखने पर तो हम उस को एक इकाई मान सकते है। लेकिन कोई भी अपने बारे म या अपने अनुभव के आधार पर या अपनी जमीन पर खडे हुए जो कुछ भी कहता है, उस मे से विषयी यानी सब्जेक्ट को तो अलग नही किया जा सकता। लेकिन इस के बावजूद वह जानता है कि इस समाज म मेरी एक स्थिति है जो मेरे अपने आप के पक्ष से अलग भी है, और जितना वह इस दूसरे पक्ष को भी जानता है, यानी अपने ही निर्वैयक्तिक पक्ष को, मैं समझता हूँ कि उतना ही वह अपने पहले के यानी विषयी पक्ष को भी पुष्ट ही करता है। और ऐसे लोग होते है, लेखको मे भी कुछ ऐसे हैं जिन का 'मैं' सिर्फ वही यानी विषयी 'मैं' है, और उस के बाहर कुछ नही है।

हाँ, वही कहते हैं न, आप के इस मे विषयी 'मै' तो नहीं दिखता। इस से आगे

नही दिखता यह कैसे कह सकते है ? वह भी है लेकिन लगातार

वह भी है, केंद्र मे है, लेकिन वहीं तक सीमित नहीं है। वहा से

फिर निर्वैयक्तिक में भी धारणा निकलती है क्यों कि वह वहाँ सीमित नहीं दिखता, ऐसा नहीं लगता कि जो कुछ हो रहा है वह खाली उस विषयी में और मैं को ही हो रहा है यानी उस के अलावा भी हो सकता है।

मैं सिद्धान्तत भी मानता हूँ और जीवन म कोशिश भी यह करता रहा हू कि व्यक्ति का जो दूसरा पक्ष होता है उस की पहचान बनी रह और विस्तृत होती रह और जो विषयी है वह उस मे लय होता रह।

तो एक 'लाजर पर्सपेक्टिव' हो जाता है। एक जगह आपने लिखा है कि काव्य रचना की प्रक्रिया मे सामाजिक का, 'आडिएंस' का एक स्थान होता है, जैसे-जैसे 'ऑडिएंस' बदलती है, काव्य-रूप बदलता जाता है। इस कथन के रहते कवि के अपने अनुभव वृत्तों की प्रासंगिकता को कैसे स्थिर किया जाये?

यह तो इस पर निभर है कि अपने' का क्या मतलब है। अपन का मतलब कोई समाजातीत तो है नही, मैं जो भी हूँ, मेरे समाज का जो बोध मुझ म है वह भी मेरे उस अपनेपन का अग है। और अगर मैं मानता हूँ, जैसा कि मानता हूँ, कि काव्य या कि कोई भी कलाकृति जरूरी तौर पर सम्प्रेषण की एक क्रिया है तो उस मे एक दूसरा पक्ष जरूरी तौर पर होता है वह सामाजिक है। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं या मानते है कि सिफ अपनी अभिव्यक्ति होती है। यह तो मुझे आत्म प्रवचना मालूम होती है क्या कि अभिव्यक्ति भी किसी दूसरे पर होती है। यह जानना चाहिए कि कही न कही

किसी दूसरे पर होती है तभी अभिव्यक्ति कहते हैं?

इस का ज्ञान है कि दूसरा है, अगर अभिव्यक्ति होती है। उस रूप म नहीं होती।

दूसरा बन कर सम्प्रेषण के 'लेवल' की बात कर रहे हैं आप? तो फिर इस मे क्या आप कविता को इस अथ मे नहीं मानेंगे कि कविता को किसी आतरिक दबाव मे लिखा जाता है, किसी बाहरी दायित्व से नहीं लिखा जाता?

बाहरी दायित्व तो नही है। लेकिन अगर दाता मैं हूँ तो दायित्व भी जरूरी नही है कि बाहर से हो। यानी बाहर से किसी को मुझ स कुछ वसूल करना है और उस को म अदा कर रहा हूँ, यह भाव नही है। मेरे पास कुछ रत्न का है मैं सोचता हूँ कि मुझे यह देना चाहिए यह दायित्व दूसरे प्रकार का है।

इस मे ऐसा भी तो बहुत कुछ हो सकता है जो आप को लगता हो,

देना चाहिए या दे सकते हैं, जिस का सम्बन्ध एक आन्तरिक 'एनरिचमेंट' से है, लेकिन फिर भी उस को आप किसी भी कारण से कुछ संकोच से सोचते हो ?

क्यों ?

इस सवाल का जवाब आप दें कि क्यों आप ऐसा सोचते हैं। कहीं 'अन्तरा' में आपने लिखा है कि मैं ऐसा सोचता हूँ कि बहुत-सी चीजें हैं जो भावात्मक या वैचारिक स्थितियों को 'एनरिच' कर सकती हैं, लेकिन इस के बावजूद मैं उन के बारे में नहीं कहता हूँ। आप उस को जिस सन्दर्भ में भी रखें, जैसा भी सोचें।

मुझे याद नहीं, कहाँ कहा है ?

दद पेज पर है।

अपने को एनरिच करती है या कि दूसरे को एनरिच करती है ?

दूसरे को 'एनरिच' करती है। 'मैं इस में से हो कर गुजरा हूँ, पर उस से दूसरा 'एनरिच' होता है क्योंकि उस सारी सघनता को मैंने जरूर जिया है पर मैं कहता हूँ दूसरे को'—इस तरह का भाव है।

तुरंत तो याद नहीं आ रहा है, लेकिन अगर उस का अर्थ यह है कि उस को देय मानने से पहले उस का मूल्यांकन करें कि सचमुच ऐसा है तब तो ठीक है। मुझे नहीं मालूम मैंने क्या लिखा है।

आप को एक आन्तरिक 'रिजर्वेशन' हो सकता है उस के बारे में। अगर इस को दूसरी दृष्टि से देखें, जैसे कहा जाता है कि तथ्य और सत्य के बीच में भेद आप करते हैं, या कुछ अनुभवों को कहने लायक समझते हैं, कुछ अनुभवों को छोड़ देते हैं। क्या यह उस के तहत तो नहीं है ?

छोड़ते हैं तो क्या छोड़ते हैं यह सवाल उठता है। तथ्य और सत्य के बीच में तो कुछ के साथ रागात्मक सम्बन्ध की बात मैंने कही है। वे तथ्य मेरे लिए कितने मूल्यवान् हैं, और यह बात कितना महत्त्व रखती है कि वे मेरे माध्यम से दूसरे तक पहुँचें ? नहीं तो तथ्य तो संसार में भरे पड़े हैं। बाकी कोई अनुभव क्यों रोक लेता हूँ दूसरे तक पहुँचाने से, कहीं न कहीं तो इस बात का मूल्यांकन होना चाहिए। मेरे लिए सत्य हो कर भी।

यह सवाल तब उठता है अगर उस के साथ यह बात मान ली जाये कि यह किसी न किसी तरह से एक 'एनरिचमेंट' का साधन है। तभी यह प्रश्न उठता है। नहीं तो बहुत कुछ होता है जो कहना तो जरूरी नहीं है। यह बात तभी उठती है कि हम उस को क्यों छोड़

देते हैं और

मैं फिर दखूगा कि मैंने ऐसा कहा है।

अच्छा, इधर की जो कविता है उस मे जो इतनी आक्रामकता है या 'डायरेक्टनेस' है उस के इस रंग रूप या तेवर को आप कहते हैं कि कविता ज्यादा बोलती है या आप को लगता है उस के मूल क्रम से कोई 'डेविएशन' हो गया है, कविता का जो मौलिक क्रम है, जिस तरह से कविता 'कसीव' की जानी चाहिए।

डायरेक्टनेस तो अलग चीज है और आक्रामक स्वर अलग चीज है। बात डायरेक्ट हो सकती है बिना आक्रामकता के। और आक्रामक होते हुए भी बहुत सम्भव है कि वह डायरेक्ट न हो। यानी जो कहा जा रहा है वास्तव म उस से कुछ बिल्कुल दूसरी बात कही जा रही हो आक्रामक रूप में। तो भाषा आक्रामक हो इस को मैं बिल्कुल आवश्यक नही मानता। और म सिर्फ आवश्यक नही मानता बल्कि कवि कर्म से स्खलन मानता हूँ।

स्खलन मानते हैं। इस रूप मे आप उस को 'डेविएशन' समझते हैं। आप कहते है कि बात स्पष्ट कही जा सकती है, लेकिन जरूरी नहीं है कि आक्रामक हो ?

आक्रामक नहो होनी चाहिए।

'चौथा सप्तक' मे आपने जो चुनाव किया है क्या उस को यह समझें कि आप उस को ऐसा मानते हैं कि कविता इस तरह की होनी चाहिए ?

नही, ऐसा कोई विधान मेरी तरफ से नही है। पहले भी कभी नही रहा और इस समय भी नही है।

तो फिर इस के बारे मे जितना शोर है, पता तो है ही आप को। आप का अपना क्या दृष्टिकोण है इस बारे मे, 'चौथा सप्तक' के बारे मे ?

चौथा सप्तक का कम स कम इतना मान लीजिए कि एक सम्पादक जो कि कविता भी लिखता रहा है उस की दृष्टि मे इस सकलन म जो चीजें हैं व अच्छी हैं।

और उस की एक परम्परा है।

यह नही है कि उस के बाहर और अच्छे कवि नही हुए। यह भी नही है कि इसी तरह लिखना चाहिए। इस स भिन्न ढग भी हो सकता है। फिर और बहुत सी बातें हैं। और भी कवि उस अवधि के अच्छे रहे और मैं जानता भी हूँ कि अच्छे रहे, लेकिन वे इतने प्रसिद्ध हो चुके हैं कि इस तरह के सकलन म उन्हे लाने की जरूरत नही थी। उन के बहुत-से सग्रह भी छप

चुके, उन को स्वीकृति भी मिल चुकी है। इस लिए वे इस म न भी हो तो यह नहीं है कि उन पर मेरी तरफ स कोई जजमेंट है या कि उन का कोई अहित है। वे तो आ गये काव्य म। तो चाहे जिस कारण, चाहे सुविधा न मिलने स, चाहे जस भी, जितनी उन की कविता की पात्रता थी उतना य कवि प्रकाश म नही आये थे तो उन्हे प्रकाश मे लाया गया। और शुरू से यह रहा है। कभी कभी ऐसा भी हुआ है इस सग्रह मे तो नही, इस से पहने कुछ एक-आध कवि जिस मैं अपनी तरफ स चाहता कि सप्तक म शामिल करूँ और उस कवि की इच्छा नही थी, या कि लोगो ने उस को रोक दिया, जो भी कारण हो। और कभी कभी यह भी हुआ कि कुछ लोगा न और कुछ सकलित कवियो न यह भी चाहा कि अमुक को भी जरूर हमारे साथ रखा जाये और मैंने वह स्वीकार नही किया। यह सब हुआ।

पहला जो सप्तक था उस मे और इस के बीच जो प्रभाव का भेद है, जिस तरह से वह 'रिसीव' किया गया इस के बीच मे इस 'फेज' को आप कसे देखते हैं ?

तार सप्तक और चौथा सप्तक म, या और आगे कोई आये उस के बीच मे कुछ भेद तो रहने ही और वे बढते ही जायेंगे। एक तो समय की दूरी के कारण है। तार सप्तक जब निकला तब इस तरह की कविता सामाजिक का साधारणतया स्वीकार्य नही थी। तो उस को समझाने की जरूरत थी, उस की व्याख्या करने की जरूरत थी उस के लिए पाठक को दीक्षित करने की जरूरत थी। वह सब काम तार सप्तक ने किया। पिछले सप्तक तक आते-आते वह पक्ष अनावश्यक हो गया था। और यह भी था कि आदमी आगे कुछ करे या न करे उम्र तो उस की बढती जाती है, तो नये कवियो के बीच म मैं धीरे धीरे पुराना कवि माना जाने लगू यह होना ही था, होता भी गया। और फिर जब लोग दशको की दृष्टि स सोचने लग तो यह बात और भी ज्यादा बढ गयी। तो उम्र मे उन कवियो से बडा हूँ, पहले स लिखता आया हूँ, ये सब तो परिवर्तन हैं जो मेरे वश के नही है। लेकिन फिर भी जो अपेक्षया नये रहे उन की रचनाएँ मैं पढता रहा हूँ उन के बारे मे सोचता रहा हूँ, कभी-कभी किसी ने कुछ राय भी माँगी है तो उसे राय भी दी है पाडुलिपि देख कर और उस मे जो मुझे अच्छा लगा है उस की प्रशसा की है। और अगर यह भी देखा है कि उस को प्रकाशक नही मिल रहा है तो उस को प्रकाश मे लाने मे कुछ योग भी दिया है मैंने। तार सप्तक के समय यह मेरे लिए ज्यादा कठिन था, अब कुछ कम कठिन है। उस समय वह मेरा काम भी नही था। इस लिए

नये कवि को कुछ इस तरह की अपेक्षा भी अब मुझ से ज्यादा होती है, पहले इतनी नही थी। और उस के साथ साथ यह भी है कि मैं ऐसा कोई भी काम करूँ तो उस की निराधार आलोचना भी पहले से कही ज्यादा होती है।

हाँ, यही कहते है कि यह चीज हताश भी तो करती है कि इतने उदात्त भाव से जो काम किया गया है

यह तो स्थिति है, अगर और जो पाठक लोग हैं उन को दीखता है कि इस मे क्या सही है, क्या गलत है तो ठीक है। मुझे उस के बारे मे और कुछ कहने की जरूरत नही है।

'अच्छा कवि' और 'बडा कवि', इन मे कुछ भेद करेंगे आप ?

होना तो चाहिए। पहली बात तो यह कहूँ कि अच्छा कवि जरूरी तौर पर बडा कवि नही भी हो सकता है लेकिन यह कहते अभी थोडा सकोच होता है कि यह भी सम्भव है कि बडा कवि अच्छा न भी हो—सिद्धा तत तो मानता हूँ कि यह बात भी कह सकना चाहिए—लेकिन उतने ज्यादा विश्वास के साथ नही कह सकता। अच्छे कवि मे पहले तो उस का निर्दोष होना आवश्यक है।

निर्दोष किस दृष्टि से ?

यह तो सम्भव है कि कोई दोष हमे उस मे न दिखे फिर भी उस को बडा कवि हम न मानें। इस लिए अच्छा तो कह दें, या कि थोडा सा विशेषण और जोड कर कहे कि 'अच्छा खासा है, साफ-सुथरी कविता लिखता है', वगैरह वगैरह—बहुत कुछ कह सकते हैं लेकिन बडा कवि न भी माने। बडे कवि की कविता मे कभी कभी दोष तो दीख सकते है लेकिन उस के आधार पर यहा तक जा सके कि कह सके कि अच्छा कवि नही है यह मुझे ठीक मालूम नही पडता। इस लिए यह कहूँ कि अच्छे कवियो मे जिस कवि के बारे मे हमे यह भी लगता है कि इस की मानव के बारे मे समग्र दृष्टि है जिस से कि हम उस को पहचान कर इस कवि की सहायता से अपने से कुछ बडे हो जाये तब मैं कहूँगा कि वह बडा कवि है। और जिस मे ऐसा नही है लेकिन जिस की कविता सुख देती है तृप्ति देती है थोडा-सा हमारे सवेदन का विस्तार भी कर सकती है वह हम कहेगे कि अच्छा कवि है।

एक बात बताइये। आप की कृतियों मे दुःख की एक बहुत गहरी पहचान है सब जगह और दुःख के सारे शेड्स भी उस मे चित्रित किये हुए है, लेकिन यह है कि उस मे एक चीज जो उस का निगेटिव पक्ष है विध्वसकारी, घृणा है, निराशा है, जितनी

'निगेटिव साइड' ह, वे सब छूट गयी ह। क्यो ?

बिल्कुल छूट गयी है ऐसा तो नही है।

बिलकुल तो छूट नहीं सकती, फिर भी प्रमुख नहीं ह, कहीं भी 'निगेटिव' पक्ष प्रमुख नहीं ह। उस पर आप चुप रहे ह।

चुप तो नही रहा हूँ, पर बल नही दिया है यह मान लेता हूँ।

पर उस के पीछे कोई जीवन-सम्बन्धी कारण है या आप का विश्वास है ? आप कैसे देखते हैं उस को ? क्यो कि यह स्थिति तो बार-बार आयी है जब कि आज-कल तो सारा जो तोडने वाला 'डेस्ट्रक्टिव' पक्ष है उस को ही उजागर किया जा रहा है, 'अगेन एड अगेन'।

ऐसा अगर है तो एक हद तक तो आपने ही अपने सवाल का जवाब दे दिया। सारा समाज ही अगर एक बात कह रहा है तो जहाँ पर जा कर वह बात गलत हो जाती है, वह बात कहना भी किसी के लिए जरूरी हो जाता ह। तो एक जवाब तो यही हो सकता है कि जो काम लोग नहीं कर रहे हैं या जो काम करने का है, लेकिन वर्तमान स्थिति मे उपेक्षित हुआ जा रहा है उस पर जोर दे रहा हूँ।

पर आप इस चीज़ को शुरू से ही सँभालते आये हैं, एक उस तरह का 'सब्लीमेशन' जो सारी चीजो के सुख-दु ख के छन जाने के बाद

दूसरी बात। अगर मैं यह कहता हूँ, सम्प्रेषण का आधार बनाये रखते हुए—यानी कविता मे जो कहता हूँ वह दूसरे तक पहुँचता है और उस मे उन चीज़ो की ओर इशारा करता हूँ जो दूसरे के जीवन को या मेरे ही जीवन को सम्पन्नतर बना सकती है और उन से इतर जो भी बातें हैं जो कि ह हमारे यथार्थ जीवन काल म, उन को भी उतने ही जोर से नही कहता, तो उस म क्या बुराई है ?

नही, बुराई भलाई की बात नहीं है, 'एटीटयूड' की बात है। क्यों कि या तो आप उस जीवन-यथार्थ को 'ट्रीट' करने लायक़ नहीं समझते या यह है कि जो एकदम फिनिश्ड 'फार्म' मे चीज आ पाती है उस के बीच वह सारी उथल-पुथल ग़ायब होती है। यानी किस 'प्रासेस' से आप इस 'प्रासेस' तक पहुँचे, जिस तकलीफ़ मे से गुजरे हैं वह उस रास्ते की पहचान नहीं है, उस मंजिल की पहचान होती है बार-बार।

कवि जिस रास्ते पर चलता है उस रास्ते पर कोई दूसरा चल नही सकता। प्रत्येक के लिए रास्ता तो अपना अपना होता है। लेकिन जिस

मंजिल पर वह पहुँचता है उस तक वह दूसरा या भी पहुँचा सकता है या उसे दूसरा को दिखा भी सकता है। तो इस लिए मैं किस रास्ते से यहाँ तक पहुँचा उस का बहुत महत्त्व नहीं है। मैंने हमेशा यह कहा है कि मुझ यहाँ तक पहुँचने में कितना कष्ट हुआ यह मेरे लिए तो बड़े महत्त्व की बात है, लेकिन दूसरों के लिए नहीं

यह भी तो हो सकता है कि कोई ऐसी तकलीफ में से बहुत कुछ 'सस्टेन' कर सका है, उस सारी प्रक्रिया को जानना, अपने-आप उन चीजों की सृष्टि कर सकना जिन को स्थापित करने के लिए आपने इतना श्रम किया है, इस की भी इच्छा हो? रचना के अन्दर या रचना के बाहर भी किसी भी तरह से—क्यों कि कभी-कभी आत्मकथा पढ़ने से ऐसी अनुभूति होती है—

वह बात व्यक्तिगत स्तर पर होती है। आत्मकथा में हो सकती है। लेकिन जो आत्मकथा में हो सकता है वह कविता में भी जरूरी तौर पर हो यह मैं नहीं मानता। इस लिए कहूँ कि अगर कोई व्यक्तिगत रूप से मुझ से पूछना चाहेगा कि तुम इस परिणाम तक कैसे पहुँचे या मेरे जीवन के जो निजी अनुभव रहे उन की चर्चा करना चाहेगा—और मुझ को ऐसा लगेगा कि इस आदमी से यह चर्चा कर सकता हूँ करनी चाहिए, तो वह कर भी सकता हूँ लेकिन कविता में करूँ यह जरूरी नहीं समझता।

हाँ, उस में एकदम 'फिनिश्ड फार्म' में आती हैं सब चीजें, जैसे पकी हुई अनुभूति ठहरी हुई हर चीज में दिखाई देती है, और तलछट भी ऐसा लगता है हर चीज में 'प्योरीफाइड' हो गयी है। तो कभी कभी उस में यह अनुभूति हमें दिखती है, खास तौर पर उपन्यासों में यह अनुभूति होती है, कि 'पेन' है लेकिन 'पेन' के 'सब्लीमेट' हो जाने की वजह से वह कभी-कभी उपलब्धि की 'फीलिंग' देने लगता है, 'सेंस आफ लास' उतना तीखा नहीं रहता।

ऐसा तो नहीं है कि पेन या कि सफरिंग भोगता हुआ व्यक्ति उपन्यास में दिखता नहीं है दिखता है।

दिखता है। लेकिन वह हमेशा उस परिणाम तक आता है जो उस का अंतिम परिणाम है जैसा आपने उस में खुद ही लिखा है 'दुःख माँजता है' यह परिष्कार की जो भावना है वह इतनी परेलल चलती है कि उस का तीखापन, 'सेंस आफ लास' कहीं न कहीं नरम पड़ जाता है, और यह लगता है कि हमें उस 'पेन' में से इतना कुछ मिल रहा है चाहे परिष्कार के रूप में चाहे अपने को

'सब्लीमेट' करने के रूप मे। तो वह 'सेंस आफ लॉस' की तरफ जरूर ध्यान पहुँचाता है। नुकसान के अर्थ मे न भी कहें तो मतलब यह चीज कहीं न कहीं इस से जरूर जुडी लगती है सारी चीजों को पढ़ने के बाद, कि जो जीवन-यथार्थ है वह—

वह सेंस आफ लॉस अगर एम्फेसाइज नही होता और उस के बदले जो मुक्ति है, सेंस आफ लिबरेशन है वह होता है, तो मैं समझता हूँ कि ठीक ही होता है।

वह अलग बात है, वह तो बहुत आगे की बात है, जो आप के सारे रचना-कर्म को वैसे भी परिभाषित करती है। क्यो कि यह चीज ऐसी नहीं कि एक जगह पर हो, जगह-जगह पर है, उस को पहचाना जा सकता है।

मान लीजिए कि भारतीय होने का एक परिणाम यह है कि सेंस आफ लास को एम्फेसाइज नही करता और सेंस आफ लिबरेशन को करता हूँ। हालाँकि इस से इनकार नही करता कि वह भी है।

वह है, लेकिन फिर भी उन स्थितियों मे नहीं आता। लेकिन जैसे यही है 'नदी के द्वीप' मे भी यह लगता है कि गौरा या रेखा जिस तरफ जा रही हैं या जिस चीज के लिए लड रही हैं वह मात्र भुवन नहीं है, मतलब वह कितना भी व्यक्तिपरक हो, पर फिर भी उस मे एक व्यक्तिपरकता का बोध नहीं होता, बार-बार यही लगता है कि यह फिर उस से आगे की बडी चीज है जिस के लिए वे वहीं तक सीमित नहीं हैं।

ऐसा लगता तो यह तो ठीक ही है।

चाहे नावेल मे रिलाइज हुआ हो या न हो? तो फिर इस लिए वह छोटा प्रतीक बन जाता है भुवन। गौरा का भुवन को पा सकना एक बहुत छोटा प्रतीक हो जाता है बजाय उस अनुभूति के जो उपन्यास मे से पाठक पाता है। वह ज्यादा बडी चीज है।

यह बात मैं कहना भी चाहता हूँ कि ऐसा ही है।

ऐसा है तो फिर उस लोकेपन से कहीं न कहीं वह छूट गया है मेरी समझ मे। अगर यह बात है, जो पढ़ने वाले को उस मे महसूस तो होती है, कि 'दिस इज ए लार्जर स्ट्रगिल फार समथिंग बिगर एंड बेटर'। यह उस के अन्दर अहसास होता है गौरा को देख कर या सारे चरित्रो का वर्णन जिस तरह से हुआ है, उन की जो नैतिकता है उस मे जो चीज निकलती है वह बार-बार दिखाती है कि भुवन से बडा कुछ है।

मैं तो समझता हूँ कि उपन्यास में यह बात स्पष्ट है और अगर नहीं है तो उस की असफलता है। साधारण सामाजिक अर्थ में भुवन को पाना कोई बहुत कठिन नहीं था, लेकिन रेखा ने नहीं चाहा कि ऐसे भुवन को पाया जाय क्योंकि पाने लायक जो चीज थी वह उस से कहीं बड़ी थी। इस के बारे में जरा भी दुविधा उस के मन में नहीं है। उस चीज को स्वीकार कर लेना उस महत्तर चीज को नकारना या विकृत करना ही होगा, उस की कोशिश में चाहे असफलता मिले।

वह अलग बात है।

यह तो मैं मानता हूँ कि यह बात कहने की थी और मेरी कोशिश थी कि वह स्पष्ट हो कर आये। और अगर नहीं आयी है तो—

पर इस में यह खतरा तो है ही क्यों कि वह पात्रों से बँधी हुई दृष्टि है। उस में यह खतरा तो रहता ही है कि हम जिन के माध्यम से सारा खेल चला रहे हैं उन को हम वहीं तक सीमित कर लें, अगर कोई आप की मानसिकता से परिचित नहीं है। यह बात तो उस में रहती है कि उस के सुख-दुःख, 'पेन्स' और 'प्लेज़र्स' उस के 'टेक्स्ट' से आगे चले जाते हैं।

हो सकता है कि खतरा हो। मैं समझता तो नहीं कि संवेदनशील पाठक के लिए यह खतरा होगा। और जो नहीं है वह कहानी के उस पक्ष को देखना या पढ़ना ही नहीं चाहेगा।

क्या आप अपनी किन्हीं रचनाओं के बारे में यह कह सकते हैं कि उसे कभी एकदम 'कम्प्लीट' देख लिया हो, लिखा चाहे कभी हो, किसी भी समय पर लिखा हो?

मेरा ख्याल है इस का जवाब 'हाँ' तो दे सकता हूँ, लेकिन उस को थोड़ा सीमित भी करना पड़ेगा। ऐसा लगा है कि एक विज़न पूरा देख लिया, लेकिन वास्तव में कोई उसी समय पूछे कि क्या देखा तो उस का उत्तर बहुत स्पष्ट नहीं होगा। लेकिन भीतर एक दृढ़ विश्वास हो जाता है। ऐसा भी होता है मसलन अपने-अपने अजनबी—कई वर्षों तक उस कथा को सोचता रहा बल्कि जेल में था यानी ३१-३२ में, पहली बार उसे लिखने की कोशिश की थी नाटक के रूप में और उस का डेढ़ अंक लिखा भी था—उस में भी तीन अंक की योजना थी। उस के आगे लगा कि स्पष्ट नहीं दीख रहा है। कुछ यह भी था कि जो स्थूल जानकारी होनी चाहिए वह भी उतनी तरह की नहीं थी। बरफ के नीचे दब कर या बाढ़ में कटने की बात हो वहाँ तक तो सोच सकता हूँ। तब यह भी सोचा था कि लोग कहीं कोयले की खान में दब जाते हैं—तो उस स्थिति

की स्थूल जानकारी भी मुझे नही थी। बाद म मैं गया भी था कोयले की खान देखने कि नीचे कैसे क्या होता है ताकि अगर उस का वर्णन कही करूँ तो वह सही जान पड़े। लेकिन उस के बाद भी हमेशा यह लगा कि पूरी बात मुझे नही दीख रही है। फिर स्वीडेन मे कुछ लोगों से बातें हुई थी, कुछ और अपने अनुभव हुए थे, उन स बात कुछ और स्पष्ट हुई फिर भी यह नही लगा। और मैंने शायद कही लिखा भी है कि रघुवीरसहाय एक बार लखनऊ की बाढ की कहानी सुना रहे थे तो सुनते-सुनते एकाएक मुझे लगा कि हाँ अब वह पूरी चीज मुझे दीख गयी। हालाँकि क्या दीख गया यह बताने को तत्काल कोई कहता तो नही बता पाता, लेकिन एकाएक यह लगा कि हाँ, जवाब मिल गया। और मैं सुनने-सुनते थोडा अन्यमनस्क भी हुआ, रघुवीरसहाय ने देखा भी और कहा भी कि मैं आप को इतनी रोचक बात सुना रहा हूँ आप का ध्यान कही और है। मैंने कहा कि हाँ कही और तो है, लेकिन उस मे जो आप सुना रहे हैं उस की अवज्ञा नही है, उसे ग्रहण कर रहा हूँ, खूब सुन रहा हूँ। उस के बाद दो-तीन दिन मे उपन्यास लिखा गया। तो कई वर्ष तक टटोलता रहा और फिर एकाएक लगा कि जवाब है, लेकिन लिखने से पहले नही जान पडता था कि वह जवाब क्या होगा, लिखा गया तभी पहचाना कि यही है।

यह बात सब से ज्यादा आप 'अपने-अपने अजनबी' के बारे मे कह सकते है या कि कुछ और रचनाओ को भी इस मे रखेंगे?

ऐसा और भी होता है।

कविता मे ज्यादा होता होगा?

यह स्पष्ट उस का उदाहरण इस कहानी मे है। और कहानियो मे भी ऐसा हुआ।

कभी आप के मन मे यह आया कि लेखन के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प आप को उतना ही सार्थकता-बोध देने वाला हो सकता था?

मै तो सोचता हूँ कि कोई भी कला हो सकती है। मेरा ज्यादा झुकाव इधर रहा लेकिन पहले चित्रकारी की ओर भी थोडा सा रहा था जब कि दोनो मे से स्पष्ट रूप से लेखन नही चुना था। फिर उस के बाद लिखते रहने के बाद, मूर्तिकला मे भी कुछ टाँग अडायी थी और उस का आकर्षण इतना प्रबल था कि दिखने लगा कि अब मैं और सब छोड कर इसी मे जुट जा सकता हूँ। तब बल्कि संकट भी रहा, कई दिन तक सोचता रहा कि अब लिखना विखना सब छोड कर इस मे लग जाऊँ। फिर यह लगा कि

मैं तो समझता हूँ कि उपन्यास में यह बात स्पष्ट है और अगर नहीं है तो उस की असफलता है। साधारण सामाजिक अर्थ में भुवन को पाना कोई बहुत कठिन नहीं था, लेकिन रेखा ने नहीं चाहा कि ऐसे भुवन को पाया जाय क्योंकि पाने लायक जो चीज थी वह उस से कहीं बड़ी थी। इस के बारे में जरा भी दुविधा उस के मन में नहीं है। उस चीज को स्वीकार कर लेना उस महत्तर चीज का नकारना या विकृत करना ही होगा, उस की कोशिश में चाहे असफलता मिले।

यह अलग बात है।

यह तो मैं मानता हूँ कि यह बात कहने की थी और मेरी कोशिश थी कि वह स्पष्ट हो कर आये। और अगर नहीं आयी है तो—

पर इस में यह खतरा तो है ही क्योंकि यह पात्रों से बँधी हुई सृष्टि है। उस में यह खतरा तो रहता ही है कि हम जिन के माध्यम से सारा खेल चला रहे हैं उन को हम वहीं तक सीमित कर लें, अगर कोई आप की मानसिकता से परिचित नहीं है। यह बात तो उस में रहती है कि उस के सुख-दुःख, 'पेन' और 'प्लेज़र्स' उस के 'टेक्स्ट' से आगे चले जाते हैं।

हो सकता है कि खतरा हो। मैं समझता तो नहीं कि संवेदनशील पाठक के लिए यह खतरा होगा। और जो नहीं है वह कहानी के उस पक्ष को देखना या पढ़ना ही नहीं चाहेगा।

क्या आप अपनी किन्हीं रचनाओं के बारे में यह कह सकते हैं कि उसे कभी एकदम 'कम्प्लीट' देख लिया हो, लिखा चाहे कभी हो, किसी भी समय पर लिखा हो?

मेरा ख्याल है इस का जवाब 'हाँ' तो दे सकता हूँ, लेकिन उस को थोड़ा सीमित भी करना पड़ेगा। ऐसा लगा है कि एक विज़न पूरा देख लिया लेकिन वास्तव में कोई उसी समय पूछे कि क्या देखा तो उस का उत्तर बहुत स्पष्ट नहीं होगा। लेकिन भीतर एक दृढ़ विश्वास हो जाता है। ऐसा भी होता है, मसलन् अपने-अपने अजनबी—कई वर्षों तक उस कथा को सोचता रहा बल्कि जेल में था यानी ३१-३२ में पहली बार उसे लिखने की कोशिश की थी नाटक के रूप में और उस का डेढ़ अंक लिखा भी था—उस में भी तीन अंक की योजना थी। उस के आगे लगा कि स्पष्ट नहीं दीख रहा है। कुछ यह भी था कि जो स्थूल जानकारी होनी चाहिए वह भी उतनी तरह की नहीं थी। बरफ के नीचे दब कर या बाढ़ में बहने की बात हो वहाँ तक तो सोच सकता हूँ। तब यह भी सोचा था कि लोग कहीं कोयले की खान में दब जाते हैं—तो उस स्थिति

की स्थूल जानकारी भी मुझे नहीं थी। बाद में मैं गया भी था कोयले की खान देखने, कि नीचे कैसे क्या होता है ताकि अगर उस का वर्णन कहीं करूँ तो वह सही जान पड़े। लेकिन उस के बाद भी हमेशा यह लगा कि पूरी बात मुझे नहीं दीख रही है। फिर स्वीडेन में कुछ गोष्ठियाँ भी हुई थीं, कुछ और अपने अनुभव हुए थे, उन से बात कुछ और स्पष्ट हुई, फिर भी यह नहीं लगा। और मैंने शायद कहीं लिखा भी है कि रघुवीरसहाय एक बार लखनऊ की बाढ़ की कहानी सुना रहे थे तो सुनते-सुनते एकाएक मुझे लगा कि हाँ अब वह पूरी चीज मुझे दीख गयी। हालाँकि क्या दीख गया यह बताने को तत्काल कोई कहता तो नहीं बता पाता, लेकिन एकाएक यह लगा कि हाँ, जवाब मिल गया। और मैं सुनते-सुनते थोड़ा अन्यमनस्क भी हुआ, रघुवीरसहाय ने देखा भी और कहा भी कि मैं आप को इतनी रोचक बात सुना रहा हूँ, आप का ध्यान कहीं और है। मैंने कहा कि हाँ कहीं और तो है, लेकिन उस में जो आप सुना रहे हैं उस की अवज्ञा नहीं है, उसे ग्रहण कर रहा हूँ, खूब सुन रहा हूँ। उस के बाद दो-तीन दिन में उपन्यास लिखा गया। तो कई वर्ष तक टटोलता रहा और फिर एकाएक लगा कि जवाब है, लेकिन लिखने से पहले नहीं जान पड़ता था कि वह जवाब क्या होगा, लिखा गया तभी पहचाना कि यही है।

यह बात सब से ज्यादा आप 'अपने-अपने अजनबी' के बारे में कह सकते हैं या कि कुछ और रचनाओं को भी इस में रखेंगे?

ऐसा और भी होता है।

कविता में ज्यादा होता होगा?

यह स्पष्ट उस का उदाहरण इस कहानी में है। और कहानियों में भी ऐसा हुआ।

कभी आप के मन में यह आया कि लेखन के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प आप को उतना ही सार्थकता-बोध देने वाला हो सकता था?

मैं तो सोचता हूँ कि कोई भी कला हो सकती है। मेरा ज्यादा झुकाव इधर रहा, लेकिन पहले चित्रकारी की ओर भी थोड़ा सा रहा था जब कि दोनों में से स्पष्ट रूप से लेखन नहीं चुना था। फिर उस के बाद लिखते रहने के बाद, मूर्तिकला में भी कुछ टाँग अड़ायी थी और उस का आकर्षण इतना प्रबल था कि दिखने लगा कि अब मैं और सब छोड़ कर इसी में जुट जा सकता हूँ। तब बल्कि संकट भी रहा कई दिन तक सोचता रहा कि अब लिखना विखना सब छोड़ कर इस में लग जाऊँ। फिर यह लगा कि

इस म करूँगा भी तो मुझ को तो मन्तोष मिलेगा लेकिन शायद इस नये माध्यम पर इतना अधिकार नही पा सकूगा जितना लेखन पर है। इस लिए उस को अपने से अलग कर शौक का स्थान दे दिया और लेखन पर ही ध्यान दिया। तो कोई साल भर इस विधा म रहा।

कब की बात है ?

हो गया उस को अरसा।

यानी काफी लिख चुके थे तब भी सोचते रहे ?

हा।

कोई ऐसी चीज दे सकते ह, या चित्र या बाहरी स्थितियाँ, जिन के रहते हुए आप को लगा हो कि इन्होंने आप के लेखक बनने की प्रवृत्ति को 'डिफाइन' कर दिया हो ?

उस समय एक बात समझ मे आयी थी—कि हाथो का उपयोग लेखक के लिए अच्छी चीज है। एक तरफ शारीरिक श्रम और दूसरी तरफ़ वास्तव म हाथो स कुछ बनाना, चाहे बढई का काम हो, चाहे मोची का काम, लेखक हाथ से कुछ बनाता है तो लेखन मे भी थोडा और सिद्धहस्त हो जाता है।

ऐसा सोचते ह आप ?

वह शब्दश 'सिद्धहस्त' होता है क्या कि लिखन म लेखन की इकानामी शब्द की कलात्मक मितव्ययिता होती है उस मे यह जो लिखन का श्रम है बताता है कि कम लिखो, कसा हुआ लिखो, एक भी शब्द फालतू मत लिखो। इस लिए प्राय लिखाने वाले, जिन मे मैं अपने को भी अब शामिल कर लेता हूँ बात बडी आसानी से ज्यादा विस्तार से कहने लगते है। वही बात अपन हाथ स लिखते तो उस को और कसते। इस लिए हमेशा सोचता रहा हू कि अपन हाथो से कुछ करना लेखक के लिए अच्छा है।

इस चीज को आप ही जोड रहे ह, शायद और कोई इस को इतनी समग्रता से न देखता हो।

कभी आप को लगा है—वसे तो ठीक ही है, आप कहते भी रहे ह कि सार्थकता लेखन कम से मिली है—पर कभी आप को इसी मे रहने की वजह से बडी व्यग्रता या हताशा ने भी विचलित किया है इस के रहते ?

नही, ऐसा तो नही। अभी तक तो जानता हूँ कि जब चाहूँ इसे छोड भी दे सकता हूँ।

छोड दे सकते ह ? लेखन को ?

इस लिए इस को बन्धन नहीं मानता।

तो फिर बन्धन क्या है ? लेखन बन्धन नहीं है ?

अगर यह लगे कि इस को छोड नही सकते तो बन्धन लगे। जैसे और नशे हैं, आदतें है, उसी तरह यह है। एक तरफ इस के साथ एक अनिवायता है कि लिखना जरूरी है, लेकिन दूसरी तरफ यह भी है कि जब चाहूँ छोड भी सकता हूँ, लिखना ही छोड दे सकता हूँ।

खर, यह विवाद की बात है।

विवाद की, या कि अभी बाद की ?

जसे भी कहिए !

अच्छा, आप की आलोचना की इतनी उग्रता जो है, चाहे वह किसी भी कारण से हो, आप को कहा तक प्रभावित करती है ? दूसरो की राय को आप कितना महत्त्व देते ह अपनी रचनाओं को लिखते समय ? पहली रचना पर हुई आलोचना आप की दूसरी रचना को कडीशन करती है ?

इस का जवाब बहुत मुश्किल है, और कुछ भी जवाब हो, सन्देह होगा कि सच है या नही। यह नही कह सकता कि गलत आलोचना से या कि जो मेरी समझ मे खरी आलोचना नही है उस से दुःख नही होता। यह भी नही कह सकता कि जो आलोचना होती है अगर वह प्रतिकूल भी है लेकिन ऐसा लगता है कि यह ईमानदारी से मतभेद के आधार पर है तो उस से कुछ सीखता नही हूँ। लेकिन इस से ज्यादा नही मालूम कि क्या कहूँ। यह मानता भी नही कि आलोचना का कोई असर नही होना चाहिए लेखक पर—क्यो नही होना चाहिए ? अगर इस रूप म भी होता है कि आलोचक एक समाज का जो पूरा निणय है उस को घोपित करता है ता उस का भी लेखक के लिए महत्त्व है। और अगर आलोचना समाज का मन्तव्य नही प्रकट कर रही ह, बल्कि एक सवेदनशील व्यक्ति की ओर से उस स भिन्न कुछ कर रही है, तो उस का भी महत्त्व होना चाहिए।

साहित्य से, लेखन-कम से, आप का भावात्मक सम्बन्ध कृतज्ञता का है या अन्तरगता का ?

अब मैं इन दानो मे कोई विरोध तो नही देखता। इन दोनो के अलावा और भी चीजें है उस सम्बन्ध मे। कृतज्ञता का इस अर्थ मे है कि उस से तृप्ति मिलती है, अपनी पहचान बढती है, अपने विकास मे योग मिलता है, और अन्तरग सम्बन्ध ता वह हमेशा है ही। इस के अलावा और भी बातें हो सकती है। आविष्कार या उन्मेप का आश्चय। चुनौती और उस

का सामना कर सकने का सन्तोष। दूसरे तक पहुँचना। आप वह विषय भी कृतज्ञता के रूप हैं—राग कर यह कि दूसरे तक पहुँच सकें, अकेलेपन से उबर सकें, उस अकेलेपन से भी जो लेखक की एक तरह से नियति है—ये सब चीजें भी हैं। लेकिन महत्त्व की बात यह है कि इस में विरोध कोई नहीं है।

कभी ऐसी स्थितियों से साक्षात्कार हुआ है जब लगा हो कि जीवन पहले है साहित्य बाद में ?

यह तो हमेशा है ही, ऐसी स्थिति। जीवन है, इसी लिए तो साहित्य है।

नहीं, मतलब जीवन इतना घेर ले कि

नहीं, इस बात को अगर साहित्य और जीवन की बात कह तब तो यह कहना होगा कि जीवन तो हमेशा पहले है ही।

लेकिन यह जीवन के बारे में है न !

अगर यह सवाल है कि प्राण रक्षा के लिए कुछ समझौते करने पड़ें और दूसरी तरफ कुछ मूल्य हों जिन से कि साहित्य जोखम में पड़ता हो तब कौन पहले है, तो कहूँगा कि ऐसे अवसर हुए और मानता हूँ कि वहाँ पर अगर कोई साहित्यकार है तो उस को यह तय कर सकना चाहिए कि जोखम उठा कर भी मूल्यों को प्राथमिकता देनी चाहिए क्यों कि मैं समझता हूँ कि सभ्यता का भी, संस्कृति का भी और मनुष्य रूप जीवन का भी आधार एक मूल्य दृष्टि है। लेकिन वैसी स्थिति में वे मूल्य जीवन के प्रतिपक्ष में नहीं रहते बल्कि वही जीवन होते हैं। जैविक स्तर पर प्राण रक्षा और जीवन मूल्यों के स्तर पर प्राण रक्षा दोनों ही जीवन की रक्षा है। और उस स्तर पर जीवन पहले है—जीवन नहीं तो साहित्य नहीं है। आप का सवाल अगर यह है कि ऐसे कभी अवसर आये, तो आये कभी कभी।

तो आप को नहीं लगता कि उन का जो विवरण है वह किसी एक सामान्य पाठक के लिए या किसी भी पाठक के लिए बहुत मूल्यवान उपलब्धि हो सकती है जिस को आत्मकथा में कहा जा सकता है, कभी सोचा है आपने ?

हो सकता है।

तो आत्मकथा के बारे में विचार कभी मन में नहीं आया ?

नहीं। या कि यों कहें कि मेरी कथा के रूप में आत्मकथा का कुछ महत्त्व नहीं है। लेकिन अगर किसी साहित्यकार ही सही—साहित्यकार के जीवन में ऐसी परिस्थिति आती है और उस में वह कोई ऐसा निर्णय लेता है जो कि मेरी दृष्टि में उसे लेना चाहिए—या कि लगातार बहुत

क्लेश पा कर भागता भी है—तो वह संघर्ष भी सामने आना चाहिए। यह बात तो मैं मानता हूँ, लेकिन वह बात आत्मकथा में भी आनी चाहिए, यह नहीं सिद्ध होता है इस से। और आत्मकथा में रूप में आ सकती है इस में मुझे सन्देह है। क्यों कि वहाँ पर अपने को सामने लाने की जो प्रवृत्ति हो जाती है उस से वास्तविक परिस्थिति का थोड़ा झूठा कर के भी प्रस्तुत किया जा सकता है। मैं तो इसी लिए कहता हूँ कि इस कोटि का सच अगर लिखना चाहे कोई तो उपन्यास उस के लिए सही विधा है और आत्मकथा नहीं। आत्मकथा में झूठ लिखना ज्यादा आसान है, उपन्यास में सच लिखना ज्यादा आसान है।

कोई दूसरा लिखना चाहे आप के बारे में तो आप इस की सच्चाई में कितना सहयोग देंगे?

जो मैंने कहा उस से जहाँ तक वह सीमित हो जाता है उस सीमा को मानते हुए अगर पूछने वाले की नीयत और योग्यता पर पूरा भरोसा है तो भरसक सहयोग दूंगा। लेकिन सहयोग देने से ही वह पूरी बात कह पाऊँगा, अपनी इच्छा के बावजूद, यह कैसे कह सकता हूँ?

आप से अच्छी तो कोई भी बात नहीं कह पायेगा, यानी कोई भी दूसरा व्यक्ति आप के बारे में उतनी अच्छी बात नहीं कह पायेगा, यह तय है।

हो सकता है कह पाये। क्या नहीं कह पायेगा?

पर उस के बारे में आप का विचार बदलता नहीं। 'नहीं' ही रहता है।

अभी तक तो है।

दूसरी बात यह कि सांस्कृतिक चेतना का जो सवाल है, बार-बार यह सरोकार आप के इस वक्त के वैचारिक धरातल में तो बहुत ही तेजी से लक्षित हो रहा है। पहले भी यह था, लेकिन उस में इस तरह की गहरी सांस्कृतिक चेतना से जो एक प्रकार की विशिष्टता मिलती है आदमी को वह मानव धर्म के अविच्छिन्न होने में बाधक होती है। मानव धर्म के प्रति हमारा एक 'टोटल' जो 'एटीटयूड' है उस में कहीं हमारी सांस्कृतिक चेतना जो हम अपने देश या परिवेश के बीच में रखते हैं वह थोड़ा बाधा नहीं पहुँचाती?

अगर सिद्धान्त रूप में यह सम्भव होता कि हम उस से बाहर जा कर उस सारी स्थिति को देख सकें, तो मैं मान लेता कि बाधा पहुँचा सकती है। लेकिन अगर उस से बाहर जाना सम्भव ही नहीं है, तब मैं इस प्रश्न को

अयथार्थ प्रश्न मानता हूँ। हम जो हैं, हमारी चेतना जो है, वह जरूरी तौर पर संस्कारवान् है संस्कारों से बँधी है इस लिए उस परिस्थिति को देखने के लिए हमारी जो दृष्टि होती है उस में एक खास रंगत तो होती है। दूसरे व्यक्ति की दूसरी रंगत भी हो सकती है, लेकिन रंगत है, इसी लिए सच्चाई नहीं दीख रही है। इस बात का बहुत ज्यादा महत्त्व यहाँ नहीं है क्या कि सांस्कृतिक सच्चाई तो जरूरी तौर पर रँगी हुई सच्चाई ही होती है।

मतलब उस को आप अवरोध नहीं मानते बड़े सत्यों के पथ में। वैसे भी देखे जा सकते हैं मानव-जीवन के बारे में।

जब हमने पहले ही यह मान लिया कि बड़े सत्य राग रंजित सत्य होते हैं तो यह राग एक संस्कृति का है या दूसरी संस्कृति का है यह सवाल तो बना रहता है, लेकिन हमने उस का रंजित होना तो मान ही लिया। ये ऐतिहासिक तथ्य तो हैं हमारे जीवन के सत्य ये नहीं हो सकते क्या कि उन का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता सम्बन्ध जुड़ता ही राग से बँधना है।

नहीं, बहुत-से लोग ऐसे हैं खास तौर से इस पीढ़ी में तो ऐसा एक बड़ा वर्ग मिल जायगा जो बिलकुल खण्डित है, जिन का बोध, संस्कृति-बोध, दोनों संस्कृतियों के प्रभाव से या उन के अपने दृष्टि कोणों की वजह से बना हुआ है—वे अपने इस बोध को देख सकें, उन के लिए क्या समाधान है ?

[illegible] जिन का एक जीवन-स्रोत से [illegible] टूट गया है या कि उन्होंने तोड़ [illegible] लिया है या कि [illegible] और दूसरे [illegible] से जुड़ [illegible] तरह से उखड़ [illegible] है। तो कहीं न कहीं से [illegible] जुड़ना चाहिए। और मैं समझता हूँ कि जिस चीज से [illegible] संस्कार [illegible] बिलकुल दूसरे [illegible] तरह आत्म-[illegible] सकती [illegible] जा सकता है [illegible]

[illegible]

[illegible]

तब आस्था का कोई अर्थ नहीं रह जाता जिस तरह की आस्था आप प्रकाशित करते रहे हैं अपनी रचनाओं में, अपने विश्वासों में।

तेवर ही तो है। तेवर तो बदलते रहते हैं।

उस में से कोई खास सार्थक अर्थ नहीं निकलता।

नही, यह अपने आप में कोई ऐसी बुनियादी चीज नही है।

इस आस्था पर आयें तो आप का ईश्वर नाम के प्रति कितना सम्बन्ध है?

यह प्रश्न है या अतिप्रश्न? इस का क्या जवाब मिल सकता है?

आप ईश्वर नाम मानते हैं या नहीं, या उस को आस्था से जुड़ा हुआ मानते हैं या आस्था उस के बिना भी हो सकती है या आध्यात्मिकता नास्तिक भी हो सकती है?

हाँ, आस्था उस के बिना भी हो सकती है।

किसी के सांस्कृतिक या आध्यात्मिक होने को कितना हम आस्था से जोड सकते हैं इस तरह की बात से आप के विचार में?

हाँ, जोड भी सकते हैं, लेकिन जरूरी तौर पर तभी उस को आस्था मानें, यह हालत तो नही।

जरूरत पड रही है कि नहीं पड रही है?

किस बात की?

कि भगवान की धारणा हम मानते हैं, चाहे किसी जरूरत की वजह से ही हो—उस को 'सस्टेन' करने वाला तत्त्व कह लीजिए या जिस का

नही, जहा तक जरूरत का सवाल है, कुछ लोगों का इस बात की जरूरत भी महसूस होती है कि ईश्वर को हम न मानें और ठीक आस्था के स्तर पर वह पहुँचती भी नही। लेकिन एक अनीश्वरवादी आग्रह ता हाता है, बहुत प्रबल आग्रह हाता है। है भी आज-कल।

ऐसा भी हो सकता है कि अनीश्वरवादी हो भी तब भी आदमी आध्यात्मिक हो, तब भी आस्थावान् हो, सांस्कृतिक चेतना से ओतप्रोत हो।

हा।

इन चीजो में कोई आवश्यक सम्बन्ध होना जरूरी तो नहीं है।

आस्थावान् होने के लिए यह जरूरी है कि ईश्वर को वह माने या न माने या बहुत से देवताओं को माने या न माने इन से अलग कोई न कोई एक स्रोत वह पहचानता हो या स्वीकार करता हो जहा से कि अन्तिम रूप से

कर्म का निर्देश मिल सकता है कि क्या करना सार्थक है या क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। अगर ऐसा कोई मान यह मानता है, तो ईश्वर है या नहीं इस का महत्त्व नहीं है, फिर आस्था उस में है। अगर इस से आगे वह यह भी मानता है कि उस मान की पहचान मैं अपने भीतर से पा सकता हूँ तब फिर वह आध्यात्मिक भी है।

आध्यात्मिक तो है ही।

हाँ।

आस्तिक हो या न हो, ईश्वर के अर्थ में आस्तिक हो।

हाँ।

हाँ, यह जो आप का सरकारी संस्थाओं के प्रति असहयोग का रवैया है उस का क्या कारण है ?

ओह! एक तो लेखक की स्वाधीनता की परिभाषा से ही यह बात जुड़ी हुई है। लेखक की स्वाधीनता के लिए यह जरूरी है कि सरकारी तन्त्र से वह इस तरह न जुड़े कि उस की जो कर्म की या निर्णय की या विचार की स्वतन्त्रता है वह किसी तरह परिसीमित हो जाय या अवरुद्ध हो जाये।

दूसरे ऐतिहासिक दृष्टि यह भी है कि बीस एक वर्ष पहले एक से अधिक जगह लेखकों ने समाजों में मिल कर निर्णय किया था कि हम सरकारी तन्त्र के साथ सहयोग नहीं करेंगे और इस निर्णय में मैं भी शामिल था। यह दूसरी बात है कि बहुत-से लोग जो उस निर्णय में शामिल थे वे उस के विरुद्ध आचरण कर रहे हैं और कुछ भूल भी गये हैं कि ऐसा निश्चय उन्होंने किया भी था। लेकिन निश्चय हम लोगों ने किया और अभी तक तो यह लगता है कि वह निश्चय सही था, सरकारी तन्त्र से जुड़ जाना और साहित्य का मानदंड सरकारी संस्था को सौंप देना या कि उस की कसौटियों को स्वीकार कर लेना बहुत ही खतरनाक होता है। किसी एक समय में ऐसा न भी लगे चाहे इस कारण कि उस समय जो लोग सरकार की ओर से फैसले कर रहे हैं वे अपने आप में बहुत गलत लोग नहीं हैं या कि उन का विवेक अतिजाग्रत है। ऐसा किसी एक अवधि में तो हो सकता है लेकिन इस के बावजूद उस तन्त्र की आत्यन्तिक रूप से जो प्रवृत्ति होगी, वह लेखक के हित में नहीं हो सकती। इस लिए सरकारी तन्त्र से अलग रहना चाहिए।

तो वह उस की प्रतिक्रिया से बाहर नहीं जाता, मतलब मानना यह हुआ कि बुद्धिजीवी जो है वह कभी भी अपना समर्थन सरकार की नीतियों को नहीं देता या सरकार को उस के योग्य नहीं समझता क्या कि यह विद्रोह तो एक 'जनरल' नीति

बुद्धिजीवी सरकार की किसी नीति या किसी निर्णय को ठीक समझता है तो उसे ठीक कहने का अधिकार तो नहीं छोड़ता और इसी लिए अगर वह उस को गलत समझता है तो उसे गलत कहने का, घोषित करने का अधिकार भी अपना नहीं छोड़ता।

मगर वह उस के अधीन नहीं है किसी भी तरह से।

क्या आप को लगता है कि जो काम आपने किया है उस से आप को तृप्ति है पूरी, आप कर सके हैं जो करना था ?

पूरी तो नहीं है, नहीं हो सकती, लेकिन काम जो किया उस में से बहुत-सा उपयोगी हुआ है, ऐसा तो लगता है।

उपयोगी तो है, पर आप को उस से कितना सन्तोष है ?

उस के अलावा और भी काम कर सकता था, यह भी लगता है।

आजकल क्या कर रहे हैं ?

क्या कर रहा हूँ। कुछ न कुछ लिखता रहता हूँ

क्या लिख रहे हैं ?

सोचता भी रहता हूँ। एक अधूरा उपन्यास पड़ा है, उस को पूरा करना है। दुर्भाग्य से इस बीच एक नया भी शुरू कर दिया।

यह तो बहुत ही अच्छा है।

इस में पहले में बाधा होती है। क्यों कि पहला तो एक बार पूरा किया जा चुका था। उस को थोड़ा सा बदलना चाहता हूँ। तो काम जल्दी हो सके

यह 'शेखर—तीसरे भाग' के बारे में कह रहे हैं ?

नहीं, उस से अलग। जिस उपन्यास के कुछ अंश नया प्रतीक में छपे भी थे उस के।

अपनी रचनाओं के सामने यदि आप को एक आलोचक की हैसियत से खड़ा किया जाये तो आप कुछ कहना चाहेंगे।

अपने सामने तो कुछ जरूर कहना चाहूँगा और वह सब का सब दूसरे के काम का होगा या नहीं यह भी आलोचक के नाते सोचूँगा। यों तो जो कुछ लिखता हूँ उस में एक अपना आलोचक पक्ष तो लगातार सजग रहता है। ऐसा सोचता हूँ चाहता भी हूँ। लेकिन रचना हो जाने के बाद भी सोचता हूँ। कभी तत्काल सन्तोष होता है और कभी जब नहीं होता तो उस रचना को प्रकाश में नहीं लाता। ऐसा हो सकता है कि उस समय तो रचना सन्तोषजनक जान पड़े और कुछ समय बाद न लगे। तब अगर उसे वापस ले लेना सम्भव हो तो वह भी करता हूँ। लेकिन आलोचक हो कर रचनाओं को देखने में तो और भी बातें हैं। उस में एक पक्ष यह भी होता

है कि अपने को जितना भी पहचानता हूँ उस दृष्टि से भी देखूँ कि जो कुछ मैंने लिखा वह जो मेरी सम्भावना थी उस को ध्यान में रखते हुए श्रेष्ठ काम है या कि इस से अच्छा भी कर सकता था। इस स्थल पर तो मैं सोचता हूँ कि आत्मालोचक सब से अधिक निर्मम हो सकता है अगर होना चाहे। दूसरे आलोचकों को तो ज़रूरी नहीं है कि इस की पूरी जानकारी हो कि मैं क्या कर सकता था। और मैं जानता हूँ कि मेरे समकालीनों में कुछ लेखक ऐसे हैं जो लिखने के बाद जानते तो हैं कि हम इस से अच्छा काम भी कर सकते थे, फिर भी सोचते हैं कि जो हो गया इस को छपने भेज दें। मुझे यह ठीक नहीं मालूम होता और मैं यही कोशिश करता हूँ कि जब तक मन में यह न हो कि इस समय मैं इस से अच्छा नहीं कर सकता था तब तक उस रचना को छपने न दूँ। फिर यह भी है कि अपनी पहचान का एक अंग यह भी है कि कुछ सुविधाएँ मुझे मिलीं जो बहुत-से दूसरे लेखकों को नहीं मिलीं और कुछ नहीं भी मिलीं जो लोगों को साधारणतया मिलती हैं—मसलन् किसी एक सुव्यवस्थित समग्र समाज में रहने की सम्भावना मेरे लिए कम हुई क्यों कि अकेला बहुत रहता रहा या ऐसी जगहों में रहता रहा जहाँ समाज के साथ एकप्राण होने की सम्भावना अभी बनी नहीं थी कि दूसरी जगह तबादला हो गया। इस दृष्टि से मैं समझता हूँ कि कुछ काम जो करने लायक तो हैं लेकिन मैं जानता हूँ कि मैं नहीं कर सकता हूँ क्यों कि मेरा जीवन वैसा नहीं रहा।

सुना है आपने प्रकाशक के यहाँ से कम्पलीट किताब वापस ली है। तो उस के क्या कारण होंगे?

उस का कारण भी कुछ इस से जुड़ा हुआ है। वह उपन्यास पूरा कर लेने के बाद मुझ को लगा कि वह कुछ कथानक प्रधान उपन्यास हो गया है। यह नहीं कि वैसे उपन्यास गलत होते हैं, लेकिन मुझे लगा कि यह मेरे करने का काम नहीं है। मैं कथानक को बहुत-सा छोड़ कर भी थोड़े से पात्रों के अन्तर्जगत् में प्रवेश कर सकता था पाठक को ले जा सकता था और वह काम मैं शायद अपेक्षया अच्छा कर सकता हूँ और अधिकतर लोग नहीं करते हैं। तो इस लिए मैंने सोचा कि इस नावेल को वापस ले कर इस में कथानक घटना का अंश जितना काट दिया जा सकता है उस को काट कर फिर कुछ चरित्रों पर अपना ध्यान केंद्रित किया जाये तो मेरे द्वारा वह काम ज्यादा अच्छी तरह किया जा सकेगा। नहीं जानता कि यह सोचना सही हुआ या नहीं। प्रकाशक का यह भी कहना था कि अगर ऐसा हो भी गया यह कथानक प्रधान उपन्यास हो गया तो क्या हर्ज है उस को छपने दो, और अगर उसी उपन्यास को दुबारा भी लिखते

हो तो दूसरा रूप भी हम छाप देंगे, उस मे कोई दोष नहीं है। यह नही कह सकता कि उन का सोचना गलत था। कविता के लिए तो अच्छा भी है कि उस में दो-तीन रूप सामने आयें तो लेखक के मानस मे प्रवेश की एक और खिडकी खुलती है। उपन्यास मे यह करना चाहिए या नही, मैं नही जानता। लेकिन मुझे यह लगा कि यह काम मेरे करने का नही है, जो मेरे करने का काम था वह कुछ उस मे नही हुआ। इस लिए मैंने वापस ले लिया।

आप प्रक्रिया बताना चाहते हैं या प्रभाव बताना चाहते हैं? उस के पीछे आप घटना पर बल नहीं देते तो यह पाठक से बहुत कुछ मांगना नहीं हुआ?

पाठक से तो कुछ मांगने का हमारा उतना ही अधिकार है जितना पाठक का हम से कुछ मांगने का अधिकार है। और उस के प्रति हमारा यह कर्तव्य भी है कि हम उस को एक रचना देते है, उस की प्रक्रिया का हम क्यो दिखायें, वह उस मे गुज़र कर कुछ पा सके तो यह उस की प्रतिभा पर है, लेकिन हम प्रक्रिया भी उस को बतायें, यह तो वैसा ही है कि कोई एक चीज़ दूसरा को दिखाये और फिर साथ-साथ यह भी बताना अपना कर्तव्य समझे कि देखो मैंने इस तरह यह काम पूरा किया। यह तो अनावश्यक है।

तो फिर इस से यह धारणा तो गलत हो जाती है जो बहुत से लोगों की और विशेष तौर से आज-कल है—कि जो कुछ हम लिखते हैं वह सब एक आम आदमी की संवेदना है और उस के वैचारिक धरातल के बराबर का होना चाहिए, कि पाठक आज के लिखे हुए साहित्य से जुड़ सके।

इस में तो निहित रूप से यह मान लेना है कि हम तो आम आदमी से ऊपर कहीं है। और फिर यह मानने के साथ साथ उस से यह कर्तव्य भी निकलना चाहिए कि अगर ऐसा भी है तो हम आम आदमी को उस जगह लायें जहां हम है। उस कर्तव्य से कठिनाई भी है। मैं तो इस आम आदमी की बात का ही एक धोखा समझता हूँ। सभी आम आदमी हैं और कोई भी आदमी आम आदमी नहीं है। यह सम्भावना तो हर किसी में है कि जहां तक कोई पहुँचना है वहां तक पहुँच सके। तो क्या न हम इस विश्वास को अपनी रचना में क्रिया रूप दें?

रचना की मानसिक तयारी और काम के समय के बारे में कुछ कहेंगे?

काम के समय के बारे मे तो सोचता ही रहा हूँ कि सभी समय काम का

समय होता है—काम के लिए जब प्रवृत्ति हो और रहन लिखने के लिए कुछ हो तब बैठ सकता हूँ। करता भी यह रहा हूँ। बस धीरे धीरे अब साधारण प्रवृत्ति यह हो गयी है कि सवेरे काम करता हूँ, दोपहर के भोजन तक दिन भर का काम कर लेना चाहता हूँ और अगर तब तक काम कर सकूँ तो फिर इस की चिन्ता नहीं करता कि बाकी दिन भी काम करूँ। फिर बाकी दिन में पढ़ना भी काम है, लोगों से मिलना, उन की बात सुनना भी या कि साहित्यिक या कि दूसरे विषयों पर चर्चा करना, जो कि सब लेखन-क्रम में मदद ही करते हैं। ऐसे सब काम के लिए बाकी दिन दिया जा सकता है। यह भी है कि जाड़ों में ज्यादा लिखता हूँ गर्मियों में कम लिखने का मन होता है। तो बहुत-सा पढ़ना और घूमना गर्मियों में करता हूँ। जाड़ों में ज्यादा लिखता हूँ। यह तो हुई समय की बात।

मानसिक तैयारी के लिए कुछ खास करना होता है यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन तब तक लिखने नहीं बैठता जब तक ऐसा न लगे कि उस के लिए तैयारी है। अब ठीक उस का आशय क्या है यह समझाना बहुत कठिन है। कविताओं के साथ, छोटी चीज के साथ तो जब भी ऐसा लगा कि हम यह कर सकते हैं तब वह एक बैठक में कर डाला—और उस के बाद ही पता लगा कि वैसा सोचना सही था या नहीं। लेकिन उपन्यास के साथ भी होता है—यह कहना गलत होगा कि पूरा का पूरा चित्र, घटनाओं का क्रम या सभी घटनाएँ अथ से इति तक दीख जाती हैं। लेकिन कहीं मन में ऐसा लगता है कि जो पूरा चित्र है मेरे काबू में है, मैं जानता हूँ कि यह समग्र रूप क्या है। यद्यपि कोई पूछे कि यहाँ से जो कहानी शुरू हुई थी अन्त में क्या होगा तो सम्भव है कि मैं न बता सकूँ या जानता भी न होऊँ। दूसरी तरफ यह भी है कि कभी कभी लिखने बैठने पर लगा है कि नहीं अभी पूरी चीज मेरे सामने स्पष्ट नहीं है, तो फिर छोड़ भी देता हूँ। ऐसा भी हुआ है कि वर्षों तक जिसे प्लाट कहते हैं या घटना कहते हैं वैसी एक चीज सामने है कि यह मुझ को लिखना है लेकिन वर्षों तक यह भाव नहीं आया कि यह पक कर तैयार है, पूरी तरह मेरे काबू में है। तो बार बार उस को सोचता रहता हूँ उस के बारे में प्रश्न उठाता रहता हूँ लेकिन लिख नहीं पाता।

तो आप के मूल 'ड्राफ्ट' और 'फिनिश्ड ड्राफ्ट' में क्या काफी फर्क होता है?

मन ही मन तो कई ड्राफ्ट बनते हैं एक ड्राफ्ट के लिखे जाने से पहले। फिर जब लिखने बैठता हूँ तो उस के बाद कोशिश यही होती है कि इस को

ड्राफ्ट न माना जाये, इसी को फिनिश्ड चीज़ माना जाये। और अगर लिखते हुए बीच मे कहीं लग कि यह तो एक मसविदा है, इस को काट छाँट कर बाद मे रूप दूँगा, तो फिर उस को वहीं छोड देता हूँ और फिर मन ही मन जो भी उस मे काट-छाँट या परिवर्तन करना हो करता रहता हूँ। अब चाहे समझ लीजिए कि यह परिश्रम का मितव्यय है या कागज़ का मितव्यय है! यही चाहता हूँ कि जो लिखी हुई चीज़ है वह तभी लिखी जाये जब सम्पूर्ण हो और इसी लिए जो कुछ लिखा है उस मे प्राय काट छाँट बहुत कम हुई है। कविता म तो कभी-कभी होता है कि एक-आध शब्द बदल सकता हूँ, लेकिन इस से अधिक नही, या कोई पंक्ति या एक पद आगे या पीछे कर दिया वाक्य के अन्दर क्रम मे। इस से ज्यादा परिवर्तन नही करता और अगर इस से ज्यादा आवश्यक जान पडे तो उसे एक तरफ रख कर फिर पूरी की पूरी चीज दुबारा लिखता हूँ।

'शेखर' के बारे मे ?

उदाहरण के लिए शेखर (पहले भाग) के तीन चार ड्राफ्ट हुए, प्राय अधूरे भी रहे क्या कि जहाँ यह लगा कि यह मसविदा है, संशोधन मांगता है उसे रख दिया और फिर शुरू से लिखना आरम्भ किया। और अन्त मे जो लिखा गया उस के बारे म तो एक रोचक बात यह भी हो सकती है कि पहला भाग मैंने नकल करने के लिए एक विद्यार्थी को दिया था जिसे इस का अनुभव नही था, तो उस ने जो नकल तैयार की उस मे ज्यादा काट छाट थी और मेरी मूल लिपि मे काट छाँट लगभग नही थी! मूल लिपि तो पडी हुई है। उस प्रतिलिपि मे काट छाट इस लिए थी कि बीच बीच मे शायद उस का ध्यान बँट जाता होगा—इतना एकाग्र हो कर वह नकल नही कर रहा था जितना एकाग्र हो कर मैंने लिखा था।

आप कितने घंटे एकाग्रता से काम कर पाते है ?

यह तो काम पर निर्भर है, कोई पूरी चीज़ तैयार हो तो अब भी १२ १५ घंटे तो लगातार काम करता रह सकता हूँ। पहले तो इस से ज्यादा भी किया है २०-२२ घंटे तक एक बैठक मे खाना पीना सब छोड कर लिखा है। पचास-पचास फूलस्केप पन्ने एक बैठक मे भी लिखे हैं। अब न तो इतनी लम्बी चीज लिखता हूँ, न इस की जरूरत पडती है, लेकिन दस बारह घंटे लगातार तो अब भी काम कर सकता हूँ और करता रहता हूँ और बीच म बाधा नही अच्छी लगती मुझ को।

किसी तरह की ?

किसी भी तरह की।

और उन दिनों जिन दिनों लिखते है उन दिनो मिलते है लोगों से ?

कोशिश यही करता हूँ कि लिखने के बीच, कोई चीज लिखी जा रही हो उस के बीच व्यवधान न पड़े। और जो काम मैं नहीं शुरू करता वह सब का सब फिर व्यवधान ही है—चिट्ठियां पढ़ना भी व्यवधान है, अखबार पढ़ना भी व्यवधान है। सब कुछ रुक जाता है। लोगों से मिलना भी।

और अगर इस बात की सुविधा न हो तो आप उस को कैसे लेंगे ?

ऐसा तो होता है, बाधा तो होती है। वह अच्छा नहीं लगता तो नहीं लगता। कभी कभी उस से फिर

काम की क्वालिटी में फर्क पड़ता है।

ध्यान टूट जाता है। फिर मेहनत करनी पड़ती है। अब एक दिन के काम के लिए ऐसा भी होता है कि काम तो वास्तव में एक दिन होगा, लेकिन उस के लिए अपना ध्यान केन्द्रित करने के लिए, एकाग्र होने के लिए तीन दिन पहले परिश्रम करना पड़े। तो इस तरह की बाधा आने पर फिर यह होता है कि पहले तीन दिन तो उस स्थिति में लाने में लगाओ कि यहां पर एक दिन बैठ कर लिखना होगा। तो इसी दृष्टि से नहीं चाहता कि इस तरह का व्यवधान हो। लेकिन यह व्यवधान होता नहीं ऐसा तो नहीं है। जरूर होता है।

पर ऐसा नहीं लगता कि तब लिखा होता तो कुछ और लिखा होता, आज लिख रहे हैं तो कुछ और लिख रहे हैं ? या उतनी स्पष्ट रूप रेखा होती है मन में ?

कभी-कभी ऐसा लगता है कि ऐसा हुआ होता। पर यह तो फिर उसी कोटि की चीजें हैं जैसे यह सोचना कि अगर अमुक बात हो गयी होती या न हुई होती तो कुछ और होता। उस का वास्तव में कोई महत्त्व नहीं है।

नैतिक दृष्टि से कमजोर पात्रों की रचना आपने नहीं की। नैतिक से मेरा मतलब है जीवन-संघर्ष में जो 'बेस्ट' हो जाते हैं या उन में जीवन-संघर्ष का सामना करने का नैतिक बल नहीं होता, उस दृष्टि से नैतिक, कोई सामान्य अर्थ में नहीं।

ऐसा तो नहीं सोचता हूँ कि ऐसे पात्रों की रचना बिल्कुल नहीं की। लेकिन उस पर जोर नहीं है यह तो मान लेता हूँ। कमजोर पात्र तो हैं पर संघर्ष करते हैं, लगातार करते रहते हैं हारना नहीं चाहते, इस पक्ष पर जोर देना चाहता हूँ। उस को ठीक भी समझता हूँ।

पर इस का सम्बन्ध आप की जीवन दृष्टि से है या आपने पात्रों को वैसे ही 'कन्सीव' किया है ? क्या कारण मानें इस का ?

हाँ, यह कहा जा सकता है कि जीवन दृष्टि में इस का सम्बन्ध है, जरूर है।

पर ऐसा तो नहीं कि वैसे पात्र होते नहीं, बहुत होते हैं जैसे पात्र और आप उन्हीं पात्रों को चुनते हैं जो जीवन संघर्ष में।

होता तो दुनिया में बहुत कुछ है। लेकिन सब का सब सिर्फ इस लिए कि वह होता है कहने लायक या कि दोहरा कर कहने लायक तो नहीं हो जाता। और जो कुछ होता है उस में से कुछ चीज़ों की ओर हमारा ध्यान जाता है, यह नहीं कि बाकी चीज़ों को हम देखते नहीं या देख नहीं सकते, कुछ चीज़ों को ध्यान देने लायक महत्त्व हम देते हैं और हम फिर कुछ चीज़ों को ध्यान दिलाने लायक महत्त्व देते हैं। यह तो अपने विवेक की बात है।

तो फिर यह बात मान ली जाये, जो अक्सर आप के बारे में कही जाती है, कि आप की संवेदना चयनधर्मी है, कुछ चीज़ों को आप उठाना चाहते हैं, कुछ को छोड़ देना चाहते हैं?

चयन तो चेतना का धर्म है। संवेदन सब कुछ ग्रहण कर सकता है पर एक मूल्यांकन की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। अगर कोई कहता है कि उस का विवेक चयनधर्मा नहीं है तो वह विवेक ही नहीं है और फिर वह मनुष्य ही नहीं है। विवेक है किस लिए अगर हम चयन न करें?

क्या कभी आप को ऐसा लिखने की प्रेरणा हुई है जिसे आप को साहित्यिक 'इमेज' के कारण या जीवन दृष्टि के कारण रोक लेना पड़ा हो कि ऐसा चित्रण नहीं होना चाहिए, या हितकर नहीं, कल्याणकारी नहीं।

यह वैसा सवाल है जैसा वकील पूछता है—यानी खतरनाक सवाल है, इस का जो भी जवाब हो। क्यों कि अगर सीधे इस का जवाब देने लगूँ तो यह बात मान लेनी होगी कि अपनी एक साहित्यिक इमेज होती है, कि वह अपने लिए होती है। साहित्यिक इमेज दूसरों के सामने होती है। अपने सामने उस से मिलती जुलती जो चीज़ होती है वह अपनी एक पहचान होती है, या कि कहें कि पहचान के दो हिस्से हैं एक जो अपने सामने अपनी पहचान है और एक अपनी वह पहचान जो लोगों को कराना चाहते हैं। इस दूसरी को ही उस अर्थ में साहित्यिक इमेज कहा जा सकता है। मैं तो नहीं समझता कि इस दृष्टि से मैंने इमेज को कुछ बहुत महत्त्व दिया है। लेकिन अपने सामने क्या हूँ इस की पड़ताल करना चाहता रहा हूँ। और यह सवाल उस के बाद उठता है कि उस में से कितना दूसरों के सामने लाने लायक है। बाकी तो मैं अपनी इमेज का कोई महत्त्व नहीं

देता। कई एक बातें सूझती हैं जो फिर बाद में कहने लायक नहीं जान पड़तीं। ऐसा तो हमेशा कहा जा सकता है कि जो कहने लायक नहीं जान पड़ा वह वैसा इस लिए नहीं जान पड़ा कि उस में इमेज को कोई आघात पहुँचेगा। पर यह भी कहा जा सकता है कि वैसा इस लिए नहीं जान पड़ा कि कला की दृष्टि से उस का मैंने महत्त्व नहीं समझा। और यह भी कहा जा सकता है कि वास्तव में इन दोनों में विरोध नहीं है। अगर मैं साहित्यकार हूँ, रचयिता या सर्जक हूँ, तो यह तो अपने-आप एक सेल्फ इमेज' है कि मैं रचता हूँ और जो मैंने रचा है वह दूसरों के सामने लाता हूँ। जहाँ मैं दावा नहीं करता कि 'यह मैंने रचा' वहाँ वह मेरी सेल्फ इमेज' से मेल नहीं खाता, इस लिए मेरे लायक नहीं है।

आपने कहीं माना है, शायद 'अन्तरा' में लिखा है, कि सम्बन्धों के जगत में बहुत कुछ ऐसा है जो मानव-संवेदन को समृद्धतर बना सकता है, फिर भी आपने उन्हें कहने से छोड़ दिया है। तो स्वयं ही निरीक्षण करो मन में रखा भी है, फिर भी उस का उत्तर नहीं दिया है। क्यों?

नहीं, ऐसा नहीं है। जो मैंने कहा है वह अपने संस्मरण के सन्दर्भ में कहा है कि बहुत-सी चीजें याद आती हैं तब लगता है कि उन में कुछ ऐसा था जिस अनुभव में से हम गुजरे हैं उस में कुछ ऐसा था, जो दूसरे के भी काम का हो सकता उस को सम्पन्नतर बना सकता। साधारणतया इस के बावजूद मैंने उसे सामने लाना जरूरी नहीं समझा तो वह इस लिए कि मैं विचारों को तो महत्त्व देता हूँ लेकिन जिस निजी अनुभव के आधार पर हम वहाँ तक पहुँचे उस को भी सामने लाना जरूरी नहीं मानता। उस को तभी महत्त्व दूँगा अगर ऐसा लगे कि सिर्फ जिस विचार तक हम पहुँचे वह नहीं परिस्थिति के बदल गये होने के बावजूद और इस अनुभव के पुराने हो गये होने के बावजूद उस प्रक्रिया में से कुछ मिल सकता है। जहाँ ऐसा लगे कि इस के बावजूद कि अनुभव आज का नहीं है और आज के जीवन में यह अनुभव नहीं होगा, उस को इस लिए दूसरे के सामने लाने लायक समझ सकता हूँ कि उस के द्वारा जो विचार आज भी महत्त्व के हैं उन का मूल्यांकन करने में मुझ को कुछ सहायता मिल सकती है। तो आत्मकथन में, या आत्मकथा में संस्मरण में, इस तरह की जो चीज है उस को तो महत्त्व दे सकता हूँ नहीं तो बाकी चीजें साहित्य की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखतीं, निजी जीवन में या अपने बन्धु-बान्धवों के बीच तो उस का महत्त्व हो सकता है।

लेखन में सम्प्रेषण और आत्मीयता में फर्क है। जो सम्प्रेषित हो

सकता है वह जरूरी नहीं कि आत्मीय भी हो। आप का हर शब्द के बारे मे, उस का सम्प्रेषण योग्य होना, इस मे आप का बडा ध्यान रहा है। पर ऐसा भी हो सकता है कि वह ऐसी आत्मीयता न उपजाता हो जसी बहुत-से उपन्यास पढ़ते समय पाठक को महसूस होती है, जसे मुद्राराक्षस के कुछ उपन्यास है—'भगोडा' उदाहरण के लिए, जो एक 'पार्टिसिपेशन' नहीं, पर एक आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित कर के वह आगे चलता है।

यह तो क्या सिफ कथा कहने का एक ढग नही है? आप बाकी समाज से खास तरह का सम्बन्ध स्थापित कर के उस का निर्वाह करते हुए कथा कहते हैं। वह दूसरे ढग से भी कही जा सकती है। लेखक के स्वभाव म भी यह बात हो सकती है।

लेखकीय परम्परा भी हो सकती है।

टक्नीक की एक युक्ति भी हो सकती है और पूरे समाज की एक परिस्थिति भी हो सकती है। क्यो कि जब किस्सागोई का युग था, वाचिक परम्परा थी, कथा—जैसा उस का नाम भी बताता है—कही भी जाती थी और सुनी भी जाती थी, तब एक आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित कर के बात आगे बढती थी। आज के समाज म शायद वह बाधक भी हो सकता है और इस खास दूरी की स्थापना आवश्यक हो सकती है उस वस्तु का सही सन्दभ म सम्प्रेषित करने के लिए। जिस समाज मे पडोसियो म भी आत्मीयता का रिश्ता नही होता, उस म कथा को आत्मीय ढग से कहना उस को झूठा करना भी हो सकता है। शायद समाज की पहचान इस म ज्यादा होगी कि जिस ढग से हम लोग जीते हैं जिस तरह का एक खास निर्वैयक्तिक सम्बन्ध रखते हुए, उसी म ढाल कर बात कही जाये। तब उस की सच्चाई ज्यादा ग्राह्य होगी। ऐसा भी हो सकता है।

थोडा 'आब्जेक्टिव' भी हो जाता है या उस से चीजो के वस्तुगत होने का अहसास, एक शिल्प की दृष्टि से भी ऐसा आभास पैदा किया जा सकता है।

तथ्य और सत्य का भेद आप के काव्य मे बहुत प्रखर हो कर आया है। इसे आप का पूर्वाग्रह कहे तो? यथार्थ-बोध तो ऐसे किसी भेद को स्वीकार नहीं करता।

पूर्वग्रह तो इसे बहुत-से लोगो ने कहा ही है। और मैंने बार-बार इस भेद की चर्चा की है। लेकिन यह बात गलत है कि यथार्थ बोध इस को स्वीकार नही करता। यह तो यथार्थ-बोध का अग है—तथ्यो मे से बहुत-से ऐसे हैं, हम जानते हैं कि ये बातें है, यह भी जानते हैं कि ये सही हैं, लेकिन

उन से अपना कोई सरोकार अनुभव नही करते। जब तक वैसा सरोकार नही होता तब तक उस का हम सत्य का दर्जा नही देते। अब रोज या कि हर घटे म लाखो लोग मरते है, सकडा बच्चे जन्मत है, लेकिन ऐसे बहुत स लोग हैं जिन के लिए जानकारी मे तो इस का स्थान है, लेकिन जो एसा नही अनुभव करते कि इस से उन का अपना भी कोई सम्बन्ध है, कि इस का बदलना चाहिए या कि कही इस मे ऐसा सरोकार उन का होना चाहिए कि वे चिन्ता करें अपने को बदलें इस तरह की चीजें सत्य का दर्जा नही पाती। आप परिभाषा ही बदल कर कहना चाहे कि हम इसी कोटि के तथ्य को ही सत्य कहते है ऐसा तो कह सकते हैं। लेकिन फिर भी जो भेद मैंने किया है इस तरह की सच्चाई के और उस दूसरी कोटि के सत्य के बीच जिस से हमारा ऐसा सरोकार होता है कि उस से हम अपने को या अपने जीवन को या अपने समाज या ससार को बदलना चाहते है या कही भीतर हम को लगा है कि इस जानकारी के साथ हमारा ऐसा सम्बन्ध है कि हम इस की उपेक्षा नही कर सकते है— वह भेद तो बना रहता है। दो अलग कोटियां के सत्य हैं। आप चाहे तो परिभाषाएँ दूसरी बदल लीजिए। एक के बदले दूसरे को सत्य कहिए। लेकिन जिस को मैंने सत्य और जिस को तथ्य कहा है उन दोनो के बीच एक अन्तर है जो यथार्थ बोध का अनिवार्य अग है। उस के बिना हमारा यथार्थ-बोध ही अधूरा है।

आप के बारे मे कहा गया है कि आप का बुनियादी सरोकार सार्थकता और स्वायत्तता की खोज है। आप कुछ कहना चाहेंगे ? मेरा या कि मनुष्य का ? कहने को तो और भी बहुत सी बात कही गयी हैं। लेकिन अगर ऐसा है भी तो ? स्वायत्तता की खोज एक बुनियादी सरोकार मेरा भी है। और मैं समझता हूँ मनुष्य मात्र का है या होना चाहिए। उस स्वायत्तता मे बहुत-सी चीजें आती हैं जिस मे आर्थिक स्वतन्त्रता या आत्म निर्भरता से ले कर मानव प्राणी के रूप मे अपनी जिम्मेदारी का निवाह करने की स्वतन्त्रता तक सभी तरह की बातें आती हैं।

तो इस का मतलब है कि ऐसा करने मे आप एक ऐसे घटक की कल्पना करते है कि व्यक्ति रूप मे व्यक्ति ऐसा हो जिस से एक विशिष्ट प्रकार के समाज का निर्माण हो, जो व्यक्ति स्वायत्त हो, स्वतन्त्र हो या सार्थक जीवन जी रहा हो। व्यक्ति के रूप मे समाज के ऐसे घटक की आप कल्पना करते है ?

इस दृष्टि स मनुष्य के विकास की पशु मे मनुष्य तक के विकास की और

मनुष्य की मनुष्य के रूप म विकास की, एक बहुत बडी प्रवृत्ति मैं इस स्वतन्त्रता की पहचान और खाज मानता हूँ। मनुष्य ही पहला ऐसा जीव है जिस के लिए स्वतन्त्रता सम्भव है और जो यह पहचानता है कि मैं स्वतन्त्र हो सकता हूँ।

जो गहरी सास्कृतिक चेतना आप के सारे लेखन मे दिखाई देती है—और यह भी लगता है कि कोई बहुत गहरी सास्कृतिक चेतना होना एक विशेष प्रकार की विशिष्टता पदा कर देता है—लेकिन यह कहीं न कहीं अवरोध भी हो सकता है जब हम मानव धम को उस की अविच्छिन्नता और समग्रता मे देखना चाहते हैं। इस विशेष प्रकार की सास्कृतिक चेतना व्यक्तिगत, व्यक्ति के अथ मे नहीं, देश के अथ मे विशिष्ट या जातीय या देशीय हो जाती है, ऐसा तो नहीं लगता ?

यह खतरा उस म है यह तो मैं मान सकता हूँ। जसे साक्षरता म यह खतरा है कि हम निरक्षर का अपन स छोटा समझन लगें—उस से अपने का काट लें। लेकिन इस लिए साक्षरता एक बाधा है, यह तो मैं नही मानता। इसी तरह सास्कृतिक चेतना है। तो उस चेतना के होने मे सवेदन मे किसी तरह भी सम्पन्न होन म यह खतरा है कि जिन मे वसा सवदन नही है उन स ऐसी इकाई कट सकती है, लेकिन उसी मे यह पहचान भी है कि मेरे सामने यह खतरा है और उस से बचना चाहिए वह एक नयी सहानुभूति भी दे सकती है। तो सस्कृति मे इस तरह की सम्पन्नता भी उस का अग है। यह तो मैं नही समझता कि यह एक अग जरूरी है, लेकिन उस के साथ यह भी है कि जिन का यह सस्कृति या यह सास्कृतिक दृष्टि या मूल्यों का यह समूह नही मिला है, जो इस दृष्टि से मेरी अपेक्षा कम सम्पन्न है उन के प्रति मेरा एक दायित्व भी है। यह भी सास्कृतिक बोध का ही एक अग है।

फिराक गोरखपुरी सास्कृतिक चेतना से जुडे रहे, देश मे रहे, लेकिन फिर भी वह इस की प्रमुख भाषा हिन्दी को एक 'डर्टिएस्ट लैंग्वेज' कहते हैं, कसा लगता है ?

वह सास्कृतिक चेतना स जुडे रहे, इस बात का फिर बहुत कुछ सीमित करना पडेगा। वह उस की एक धारा से जुडे रहे। यह सिफ एक सीमा हो तब भी कह सकते हैं कि 'सीमा है लेकिन अपने आप मे दोष नही है'। लेकिन उस के साथ साथ उन म दूसरी धाराओं के प्रति एक अवज्ञा का, घृणा का भाव भी रहा। अब निश्चय ही उस के बहुत से कारण उन के व्यक्तिगत जीवन म भी रहे होंगे। उन म जाने की जरूरत नहीं। लेकिन

मैं तो समझता हूँ कि एक दृष्टि से उन्होंने अपने को पंगु ही बनाया और यह बात उस पंगुता की एक अभिव्यक्ति है। बल्कि यह कवि की दृष्टि से बहुत बड़ी पंगुता इस लिए है कि किसी भी कवि का किसी भी भाषा के बारे मे यह कहना कि वह भाषा घटिया है यह इंगित करता है कि भाषा क्या होती है इस की पहचान ही उस को नही है। कोई भी भाषा घटिया या बढ़िया नहीं होती। उस से जो हम काम लेते है वह घटिया या बढ़िया होता है। फिराक साहब को समझना चाहिए था कि हिन्दी न होती तो वह उर्दू वह लिख ही न सकते जो उन्होंने लिखी।

आपने नियति-बोध की आवश्यकता और उस के अभाव के ख़तरों की बात की है। उसे समझायेंगे ?

नियति-बोध सिर्फ संस्कृति की दृष्टि से। संस्कृति का एक अर्थ यह भी है कि एक समग्र मूर्ति उस पूरे समाज की या समूह की जिस की वह संस्कृति है उस के सामने होती है। वैसा अगर है, एक समग्र चित्र सामने है तो उस का एक लक्ष्य भी सामने है, इस संस्कृति के भीतर रहने वाले लोग इस दिशा में बढ़ रहे हैं, इस दिशा में बढ़ कर वे अपने आप को पूरी तरह अभिव्यक्त कर सकेंगे, पूरी तरह पहचान सकेंगे, अपने को मनुष्य के रूप मे निष्पन्न कर सकेंगे यह उस सांस्कृतिक दृष्टि से मिलने वाला एक तरह का नियति-बोध होता है। जिस संस्कृति में यह दृष्टि नही है इस का कोई ज्ञान नही है कि हम एक सांस्कृतिक समूह के रूप में क्या है किधर जाना चाहते हैं यह संस्कृति हमे किधर ले जा कर निष्पन्न होगी, उस मे सांस्कृतिक नियति बोध नही है। मैंने जो चर्चा की है, इसी सन्दर्भ में की है। उस दृष्टि का न होना एक विशेष प्रकार का अन्धापन है। वहीं मैंने इस बात का भी उल्लेख किया है कि नियति बोध एक ख़तरनाक चीज भी हो सकती है। अगर ऐसा हो जाये कि समाज में कुछ थोड़े से लोग हों जिन के पास सत्ता हो और जो कहें कि हम देखते हैं और हम निर्णय करेंगे कि इस पूरे समाज की नियति क्या हो—जहां ऐसा है वहां ख़तरा है। लेकिन जहाँ पूरा समाज इस चीज से नियन्त्रित होता है कि इस पूरी संस्कृति के लिए यह लक्ष्य है और उस लक्ष्य में लोगों को साथ लेते हुए चलता है वहां तो ख़तरा नही है।

आपने यह भी तो साथ ही कहा है कि नैतिकता-बोध का न होना जीवन-लक्ष्य का न होना है और जो बच रहने मे सहायक है वही नैतिक है।

ये दो बातें हैं। दूसरी बात पहली के साथ जुड़ सकती है लेकिन फिर एक विशेष अर्थ मे—जहां पर इस का महत्त्व है कि 'बच रहना' हम किस को

कह रहे हैं। एक बच रहना है जो कहता है कि बचे रहना ही अगर सब से श्रेष्ठ नीति है तो और किसी तरह का नैतिक बोध हमे नही चाहिए—बाकी सारे नैतिक विचार इस म बाधक होत है। उस तरह के बच रहने का समथन मैं नही करता। लेकिन मनुष्य-रूप मे बच रहना नैतिक दृष्टि से सही कर्म करत हुए बच रहना है। यानी मनुष्य का बच रहना और पशु का बच रहना दो अलग-अलग कोटि के बच रहन है एक शुद्ध जैविक स्तर की बात है, एक मानवीय स्तर की—नैतिक स्तर की। यह भेद ता मैं करता हूँ। नैतिक बोध मनुष्य की सम्पत्ति है और मनुष्य के रूप मे बच रहने का अथ नतिक व्यक्ति होते हुए बचे रहना ही है। अगर नैतिक बोध नही है तब काई लक्ष्य नहा है। यह नैतिक बोध ही है कि अमुक हमारा लक्ष्य है, उस की आर जान के लिए हमे अमुक प्रकार का कम चाहिए, अमुक प्रकार से जीना चाहिए।

बहुत हद तक अकेले खडे रह सकने के सामथ्य के पीछे कुछ विशिष्ट घटना कम का उल्लेख करना चाहेंगे?

नहीं जानता कि इस का क्या जवाब दू। मेरी शिक्षा दीक्षा और जीवन की परिस्थितिया ही बहुत हद तक इस के लिए उत्तरदायी रही, शुरू से ही अकेले रहना पडा और बसे रहने का सामथ्य बढाना पडा था उस के लिए दीक्षा प्राप्त करनी पडी। नि स देह पिता जी भी अपने बचपन से ही बहुत काफी अकेले रहते आये थे और उन मे भी इस तरह का सामथ्य था, इस लिए इस की ओर एक आकपण को उन्होंने कुछ बढावा भी दिया। लेकिन यह भी कहना चाहता हूँ कि यह अकेले होना क्या होता है। मैं कोई मौलिक बात नही कह रहा हूँ—और बहुत-से लोगा ने यह बात जानी है और कही है—अकेले मे हर किसी को अकेलापन ही लगेगा ऐसा तो नही है। मैं तो जब अकेला होता हूँ तब इतन काम करन को हाते हैं कि यह साचने की फुरसत कहा होती है कि मैं अकेला हूँ या नही।

पर अकेलेपन की उपलब्धि जो है वह आप को सुलभ है, और यह चीज सुलभ नहीं है, इस का ज्ञान तो है। मतलब एक लेखक होने मे तो आप को यह सहायता करता रहा है अब तक।

ऐसा कह लीजिए कि यह एक तरह की कम-कुशलता ही है—और आप चाह तो इस का योग कर्मसु कौशलम के साथ भी जाड दीजिए। अकेले काम कर सकता हूँ और काम करने म दूसरे पर निभरता अनिवाय नही है, यह सीख लिया। समझता हूँ कि इस सामर्थ्य का अगर कोई घटक या कि स्रोत है ता यही है कि बहुत कुछ अकेले भी किया जा सकता है वह करते रहो। उस से अगर फुरसत होगी तब सोच लेना कि ऐसे भी काम

होते हैं जो दूसरे के साथ ही किये जा सकते हैं। तब अकेलापन खटक भी सकता है, लेकिन ऐसे अवसर कम आते हैं।

यह भी लेखकीय दायित्व का भाग नहीं है कि लेखक अपने समकालीनों के बारे में कुछ कहे, अपने विचार प्रकट करे, क्योंकि वह अपने समय का भी साक्षी है और अपने सामने जो रचनात्मक क्रिया हो रही है उस का भी साक्षी है ?

अपने समकालीनों के बारे में सोचे और आलोचक भाव से सोचे, यह तो आवश्यक है। अपने सर्जन के लिए भी यह आवश्यक है। लेकिन उस के बाद कुछ कहे ही यह तो नहीं जानता कि जरूरी है। या मैं खुद तो कहता भी रहा हूँ और यह भी कह सकता हूँ कि अगर न कहता रहता तो कम से कम मुझे बहुत सी दृष्टियों से कुछ सुविधा भी मिल गयी होती। दूसरों के बारे में सोचना, किसी परिणाम पर पहुँचना, आलोचना के आधार पर अपने समय के पूरे साहित्य के बारे में सोचना, उस का मूल्यांकन करना है और वह इस लिए उपयोगी है कि उसी के सन्दर्भ में व्यक्ति खुद भी लिखता है उस में अपने पूरे पाठक-समाज की पहचान भी स्पष्टतर होती है। ऐसा कुछ लेखकों ने मुझ से कहा भी है—और वह मान लूंगा कि यह तर्क-संगत है—वे कहते हैं कि अगर सोचें भी तो उस को कहने में जो प्रतिक्रिया होती है—यह तो है नहीं कि आप आलोचना कर देंगे और उस के बाद जवाब में कम आलोचनाएँ नहीं होंगी, और इस की कोई गारंटी नहीं है कि उन में से कई या ज्यादा भी बिल्कुल पूर्वग्रह-दूषित या कि द्वेषभरी नहीं होंगी। तो उस सब में बहुत-सा समय नष्ट होगा—वह क्यों नष्ट किया जाय ? तो बहुत से लेखक कहते हैं कि अपने समकालीन साहित्यकारों के या उन की रचनाओं के बारे में वे पढ़ कर कुछ राय तो बनाते हैं लेकिन उस का प्रकाशन कर के यह जोखम क्या मोल लिया जाये कि हमारा सारा समय या कि बहुत सा समय इस चर्चा में निकल जाय ? हम अलग बैठ कर अपना काम करें।

तो जो कुछ उस के बाद में कहा जायेगा, इस समय के गुजर जाने के बाद कहा जायेगा वह उस का 'पोस्ट मॉर्टम' है, उस समय का 'थॉट' नहीं है, जैसे बहुत-सी चीजें व्यक्तित्व से जुड़ी होती हैं जो बाद वाले समय का पता नहीं रहतीं।

यह तो ठीक है। पर बाद में भी वह क्यों कहेगा ? वह कहेगा ही क्या ? आलोचक वह तो कहे—

तो इस को आप जरूरी नहीं मानते ?

उस कहने ही ऐसा जरूरी नहीं मानता। अगर कहने का जोखम उठाने

भी तो यह तो मान सकता हूँ कि अगर बहुत सा समय नष्ट होगा तो उस मे कुछ लाभ भी होगा, बल भी मिलेगा क्यो कि आलोचना सह सकना भी एक काम की चीज है।

वसे क्या आप को यह जरूरी नही लगता कि जो आप का आगे का लेखन है उस मे यह बात जरूरी होनी चाहिए ? अभी तक आप के मूल सरोकार जो ह काफी स्पष्ट हो गये ह पाठकों को भी या एक साहित्यिक परम्परा के रूप मे भी। स्वय भी आप की अपनी केन्द्रीय दृष्टि को रेखांकित करते हुए आप का आगे का लेखन उस से सम्बन्धित होना चाहिए, ऐसी कोई जरूरत आप को महसूस होती है ?

यानी ?

सेंट्रेलिटी आफ विजन।

आप यह कहना चाह रही हैं कि अभी जो लिख रहा हूँ उस मे यह नही है ?

यह नहीं। एक वह होता है जो उन चीजा से उदभूत होता है, जो आप लिख रहे हैं उस से हम नतीजा निकालते ह, एक यह है कि जो उस चीज का अहसास है, उस के सरोकार आप के मन मे स्पष्ट हो गये हैं। बाकी जो क्रिया प्रतिक्रिया से या 'डिस्कशन' से चीजें आप तक पहुँच गयी अपने आप, या दूसरों द्वारा पहुँचा दी गयीं, उन की स्पष्टता के लिए—जसे डॉ० देवराज की 'लेटेस्ट' किताब निकली है—

कुछ परिवतन इस आधार पर हो भी रहा है मरे लेखन मे।

इस दिशा को छू रहे ह, जसे साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' मे जो लेख आप लिख रहे ह वे काफी कुछ आप के वैचारिक या केन्द्रीय, मूल सरोकारो को स्पष्ट कर रहे ह। इस समय उन को लिखने की क्या मूल प्रेरणा रही ? क्या वे अलग-अलग समयों पर लिखे गये—

अलग-अलग समय पर लिखे गये या लिखे जाते हैं। पर जब छपते हैं उस से बहुत पहले के नही होते। उस से कुछ पहले के—यानी मोटे तौर पर आज का ही लिखा है जो छपता है।

आप के ख्याल से जो कहा जा रहा है वह काम कर रहे ह आप ?

हाँ, यह कहा जा सकता है कि ऐसा है। दूसरे क्यो लिख रहा हूँ उस का कारण यह भी है, अब फिर अकेले रहने से बात जुड जायेगी, कि जो अकेला रहता है—चाहे लाचारी से, चाहे पसन्द से, चाहे जैसे भी—उस के लिए समाज से जुडे रहने का एक तरीका यह भी है कि जब-तब अपने

विचार दूसरा के सामने रख दे और उन की कसौटी होने दे। उस के लिए कुछ मार भी पड जाये तो उस म भी कुछ बुराई नही है वह भी समाज से जुडने का एक तरीका है।

२*

लेखक की 'ग्रोथ' की बात विचाराधीन रखते हुए लेखन के साथ अपने बदलते रिश्ते का आप कसे स्पष्ट करेंगे ? क्या उस का अपने मन्तव्यो के विरुद्ध जाने का खतरा आप निहित मानते हैं ? उस खतरे के प्रति आप का क्या रुख है ?

पहले तो ग्रोथ शब्द का ले लीजिए। वह एक तो शरीर धम है—स्वस्थ शरीर निरन्तर विकसित होता है और इस लिए हर प्राणवान् इकाई अपने अतीत के साथ अपना रिश्ता बदलती है। दूसरे, लेखक के सन्दभ मे ग्रोथ का मतलब है मानसिक विकास, प्रौढता, भाषा और शिल्प पर बदलता हुआ अधिक आश्वस्त अधिकार, सामाजिक चेतना और संवेदन का विकास, विचार-क्षेत्र का विस्तार इत्यादि। इस सब को 'खतरा वही मानेगा जो यह प्रतिज्ञा ले कर चलेगा कि इन सब दृष्टिया स काल के अमुक बिन्दु पर मेरी जो स्थिति थी वही प्रामाणिक है और उस स इधर-उधर हटना 'अपने मन्तव्या के विरुद्ध जाना' है और इस लिए खतरा' है। यहा यह भी कहूँ कि विकासमान सजक प्रतिभा वाला लेखक अपने को रद्दी करते चलने का स्वयसिद्ध अधिकार ले कर चलता है। बल्कि जहाँ यह खतरा चुक गया वहाँ यह शका होनी चाहिए कि सजन का साहस भी चुक गया। वाल्ट ह्विटमन न निरी गर्वोक्ति नही की थी जब उस न कहा था

I contradict myself ?
Very well then, I contradict myself
I am vast, I contain multitudes
(मैं अपनी बात का खडन करता हूँ ? ठीक है अपनी बात का खडन करता हूँ। मैं विराट् हूँ, मुझ म बडे-बड समूह समा जाते हैं)

---

* यह दूसरा सवाल अगस्त १९८५ में सम्पन्न हुआ।

लेखन के क्षेत्र मे भीतरी ससार की प्रासगिकता बाहरी ससार से तय होती है, इस बारे मे आप का क्या रुख है ? इस किस्म के दबाव को आप कसे झेलना चाहते रहे ?

आप का सवाल जिस प्रतिज्ञा पर खडा है वह एक अध सत्य है। आकर्षक अध-सत्य है, लेकिन उतना ही आवश्यक इस से ठीक उलटा अध सत्य भी होगा—कि बाहरी ससार की प्रासगिकता भीतरी ससार से तय होती है। पहली बात तो यह है कि 'भीतरी' और 'बाहरी', ये विशेषण ही एक छद्म हैं—इन की साथकता इस पर निभर है कि हम कहा खडे हो कर देख रहे हैं। जब मैं बाहर खडे हो कर और बाहर से एकात्म हो कर भीतर झाकता हूँ तो वह 'भीतर' ही अज्ञात, अपरिचित गैर है—अथात वही 'बाहरी ससार' है। मैं लगातार नये बिन्दु पर खडा हो कर भीतर और बाहर झाँकने के अपने अधिकार को छोडना नही चाहता। यह अधिकार सजनात्मकता का एक बुनियादी अधिकार है। इसी के द्वारा लेखक एक भूमि पर खडा हो कर दूसरे ससार की रचना करता है और फिर दूसरे मे पर टिका कर पहले ससार को रूपान्तरित करता है। और यही प्रासगिकता है, क्यो कि इस सदभ मे प्रासगिकता एक गत्यात्मक सम्बध ही हो सकती है। किसी एक बिन्दु पर खडे हो जाना और उसी को चरम बिन्दु मान कर वही से सब कुछ की प्रासगिकता की कसौटी करना निरी हठवादिता होगी। वसी कसौटिया तभी काम देती है—तभी 'प्रासगिक' होती है—जब वे आग्रहपूवक एक मूल्याकन प्रस्तुत करती हैं, उस अन्तिम निणय मान कर नही बल्कि कुछ तथ्यो पर बल देने के लिए।

मैं स्वय भी बार बार, जगह जगह रुक कर एसे मूल्याकन करता हूँ। उस से जो तनाव पदा होता है वह इस आवश्यक काम मे मेरी मदद करता है—कि भीतरी और बाहरी ससारो की परस्पर-पोषक प्रणालियो को मैं और मजबूती के साथ जोड दू—ससार का रास्ता और साफ कर दू।

और इस म यह भी निहित है कि कोई मेरे एस सभी मूल्याकनो को रद्दी घोषित कर दे सकता है क्यो कि उस के 'भीतरी' और 'बाहरी' ससार दूसरे होगे।

इस समय की विचार धाराओ—विशेषतया जनवाद या सामाजिक यथाथवाद को ले कर आप का क्या मन्तव्य है ? वह जिन सरोकारो को रेखाकित करता है, साहित्यिक दृष्टिकोण से वे भी कुछ कम गम्भीर तो नहीं हैं। उन चुनौतियो का सामना आप अपने लेखन मे किस स्तर पर करना चाहते हैं ?

मैं तो इसे स्वयंसिद्ध मान लेता हूँ कि जनवाद या सामाजिक यथार्थवाद जिन सरोकारों को रेखांकित करता है वे भी गम्भीर हैं—यानी सामाजिक सरोकारों को। लेकिन सचमुच क्या इस समय का तथाकथित जनवाद या तथाकथित सामाजिक यथार्थवाद, सामाजिक सरोकारों पर ही बल दे रहा है? क्या सच्चाई यह नहीं है कि सामाजिक स्थितियों और समाज में क्रियाशील शक्तियों का ये विचार धाराएँ अपने-अपने राजनीतिक स्वार्थ के अधीन ऐसे रूप में प्रस्तुत करना चाहती हैं, उन से वैसे ही भावनात्मक उद्वेग जगाना चाहती हैं, जो उन के दलगत उद्देश्यों को पूरा करने में सहायक हों—यानी उन के दल के हाथ में सत्ता की बागडोर थमा देने में सहायक हों? ऐसा न होता तो इन दोनों पक्षों के बीच इतना आपसी तनाव भी क्या होता जब कि जिन सामाजिक सरोकारों की बात वे करते हैं वे एक ही है और जिस विचार धारा अथवा जिस शास्त्र के अधीन वे उन सरोकारों को रेखांकित करते हैं वह भी एक ही है?

ऐसा नहीं है कि मेरे अपने राजनीतिक विश्वास या आग्रह नहीं हैं। एक लोकतन्त्र का नागरिक हूँ और नागरिकता के अधिकारों और कर्तव्यों में मेरी आस्था है। लोकतन्त्र प्रणाली को भी अब तक विकसित की गयी प्रणालियों में सब से अच्छी यानी सब से कम दोषपूर्ण मानता हूँ। लेकिन अपने कर्म को भी केवल नागरिक की दृष्टि से नहीं बल्कि साहित्य-सर्जक की दृष्टि से देखता हूँ तो आग्रह में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है। और मैं मानता हूँ कि वैसा होना उचित भी है। साहित्य सर्जक के सरोकारों का आधार समग्र मानव की बल्कि प्राणिमात्र के विकास की परिकल्पना से जुड़ा होना चाहिए। मैं इस बात की ओर संकेत कर रहा हूँ कि सत्ता अधिकृत करने के तत्कालीन सरोकारों के अथवा देशों के युगीन स्वार्थों के विरुद्ध भी ये बृहत्तर सरोकार हो सकते हैं। ऐसे विरोध की स्थिति में इन उच्चतर मूल्यों अथवा व्यापकतर हितों की बात साहित्य-सर्जक ही कर सकता है दलगत स्वार्थों में फँसा हुआ राजनीतिक व्यक्ति नहीं।

कह लीजिए कि साहित्य-सर्जक केवल एक देश का नागरिक बन कर चुक नहीं जाता। वह मानवतावादी भी है तथा प्राचीनतर अर्थ में प्राणिवादी भी।

कविता का आदि संस्कार अपने 'स्व' से शुरू हुआ माना जा सकता है। इस अर्थ में विकास के दौर से गुजरती आज की कविता बाहर के संसार को पूरी तरह उन्मुख है—बाहरी संघर्षों की वकालत करती है। इस अर्थ में उसे सार्थक कविता माना जा सकता है। आपके विचार?

क्या आप का ख्याल है कि मुक्तिबोध का ब्रह्म राक्षस अथवा अँधेरे में या धूमिल का संसद से सड़क तक बाहर के संसार की तरफ अधिक उन्मुख है महाभारत की अपेक्षा ? कविता संघर्षों की वकालत नहीं करती। वकालत करना ही अपने को एक पक्ष के साथ बाँध लेना है और निर्णय का अधिकार किसी दूसरे—या रूपक का निर्वाह करते चलें तो किसी तीसरे—को सौंप देना है। कविता यह स्थिति कैसे स्वीकार कर सकती है ? कभी कभी वह ऐसा करे भी तो केवल आपातिक स्थिति समझते हुए करेगी—उपेक्षित पक्ष को भी सामने ले आने के लिए। यानी ऐसे काम की 'सार्थकता' है तो इसी सन्दर्भ में और इसी सीमा के भीतर। और मानव मात्र इस बात को बहुत अच्छी तरह जानता है। सारे संसार के काव्य के उपलब्ध इतिहास का साक्ष्य देख लीजिए। जिन कवियों को कालजित् मानते हैं उन में कौन ऐसा था जो 'वकील' था ? मानव के दुःख का उल्लेख सभी ने किया, एक गहरा और व्यापक कारुण्य सभी में रहा, लेकिन वकालत ?

और दूसरे देशों में भी, दूसरे युगों में भी, जिन्होंने समय समय पर 'संघर्षों की वकालत' की, उन्हें हम भाट और चारण की कोटि में रखते हैं। भाटों और चारणों ने भी अपने-अपने समय में महत्त्व का काम किया और उस काम के प्रति मैं अवज्ञा नहीं दर्शाना चाहता। आज भी लड़ाई के लिए उकसाने वाले—संघर्षों की वकालत करने वाले—कवियों की ज़रूरत है और उन की कविता की भी तथा युगीन अथवा आपातिक सार्थकता है। लेकिन कविता की सार्थकता कुल जमा उतनी होती है यह मैं नहीं मानता। कोई भी कवि नहीं मानता।

क्या आप कविता को ले कर उपयोगिता का प्रश्न उठाना चाहेंगे ?
बिल्कुल नहीं चाहूँगा। स्वयंसिद्धों को ले कर प्रश्न मैं नहीं उठाता। यों ऐसे समय आते होंगे जब ऐसा प्रश्न मन में उठता होगा। कविता से फायदा ? साहित्य रचना से फायदा ? कुछ भी करने से फायदा ? जीने से फायदा ?

—और ऐसे प्रश्नोत्तरों से फ़ायदा ? लेकिन कविता की बात छोड़ कर उपयोगिता की बात पर ही थोड़ा विचार कर लिया जाये तो अनुपयोगी न होगा। उपयोगिता किस के लिए ?—यह भी सोचा जा सकता है। और यही उत्तर के लिए ऋणात्मक प्रतिज्ञा से भी शुरू किया जा सकता है। कविता न हो तो क्या बिगड़ जायगा ? सर्जनात्मक प्रतिज्ञा न हो तो क्या बिगड़ जायगा ?

क्या कभी ऐसा हुआ है कि बाहरी विभीषिकाओं की दारुणता को

देखते लेखन-कर्म की व्यर्थता का अहसास हुआ हो और उस में एक पलायन में उतारने की अनुभूति भी हो ?

यह प्रश्न आप के पिछले प्रश्न का विस्तार ही है। अगर किसी स्थिति में लेखन कर्म व्यर्थ दीखता है तो उसे छोड़ कर जो कर्म सार्थक दीखता है उस में क्यों नहीं प्रवृत्त होना चाहिए ? अगर विभीषिका के समक्ष उपाय के रूप में लेखन-कर्म अपर्याप्त दीखता है—जो हो सकता है—तब स्वाभाविक प्रक्रिया का एक अंग यह भी होगा कि 'मैं दूसरा क्या उपाय कर सकता हूँ ?' लेखक के लिए भी लेखन ही एकमात्र कर्म नहीं है। एक सामाजिक व्यक्ति और एक नागरिक के नाते और भी बहुत से कर्म उस से अपेक्षित भी हैं और उस के लिए सम्भव भी हैं। सोचना यह चाहिए कि *जैसी विभीषिका है, जिस क्षेत्र का आपात है,* आप जो कर्म कर रहे हैं वह कहाँ तक उस के अनुरूप है ? जहाँ इस अनुरूपता की चुनौती की उपेक्षा है अथवा उस से बचते हुए कर्म किया गया है वहाँ कर्मच्युति है या पलायन है। आप यह न भूलिए कि अनुरूप कर्म से बचने का एक रूप लेखन भी हो सकता है—यानी लेखन मात्र पलायन हो सकता है। आज ऐसा बहुत सा साहित्य लिखा भी जा रहा है जो अपने सामाजिक कर्म से पलायन का एक तरीका है—सामाजिक कर्म का एवज़ी है। ऐसे लेखक कम नहीं हैं जो विभीषिकाओं का प्रतिकार करने के लिए छन्दबद्ध हो हल्ला मचा रहे हैं लेकिन सामाजिक स्तर पर या कि यथार्थ स्तर पर कुछ नहीं कर रहे हैं। जुझारू लेखन, और समाज में आराम की जगह की खोज या सरकारी संस्तुति और सुविधा की माँग—इस विरोध को न देखना भी एक पलायन है।

जहाँ तक आप के प्रश्न का अन्तिम अंश है मैं समझता हूँ कि अपने लेखन कर्म में तो पलायन की प्रवृत्ति मेरी नहीं रही है। यों यह सवाल लेखक से पूछने का इस लिए नहीं है कि इस का उत्तर उस की रचना में ही खोजना चाहिए—वही उत्तर विश्वसनीय होता है।

अपनी उत्तराधिकारी पीढ़ी से आप की क्या अपेक्षा है ? ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की आप व्याख्या करना चाहेंगे ?

परवर्ती पीढ़ी को जब 'उत्तराधिकारी पीढ़ी' के रूप में देखूँगा तब स्वभावतः चाहूँगा कि वह अधिकारी हो और उत्तरदायी हो। और तब वह उत्तराधिकार केवल मुझ तक सीमित नहीं रहेगा। एक बहुत लम्बी प्राणवान् परम्परा है जिस से वह जुड़ सकेगा और जिस से जुड़ना उस के लिए आवश्यक होगा। यह परम्परा साहित्य की भी है समाज की भी है, देश और संस्कृति की भी है। सभी में निरन्तर जो विकास हुआ है

अस्वीकार, सुधार, परिवर्तन और विस्तार की जो प्रक्रियाएँ क्रियाशील होती रही है और है, मूल्यवान पुराने की रक्षा के साथ आवश्यक नये की रचना के लिए साहसिक प्रयोग करने और जोखम उठाने की जो प्रवृत्ति रही है—उन सब का निवहन भी उत्तराधिकारी से अपेक्षित होगा।

यह स्पष्ट कर दू कि ये अपेक्षाएँ मेरी नही होंगी क्या कि अपेक्षा करने को वहाँ मैं नही हूँगा। चुनौती समकालीनता की चुनौती है और होती है।

क्या आप समझते ह कि सचमुच कभी ऐसा समय आ सकता है कि जब हम जिस बदले हुए समाज की कल्पना करते ह वह आ जाये—या यह महज हमारी आदर्शोन्मुखी कल्पना है?

हम आज से भिन्न समाज की सिर्फ कल्पना ही नही करते आज के समाज को बदल कर उसे नये समाज के निकटतर लाने का बराबर प्रयत्न करते है। अगर नही करते तो हम केवल कल्पनाजीवी हैं वह स्वस्थ अवस्था नही है। अगर हम समाज को बदलने के लिए यत्नशील हैं तो बराबर अपने आदर्श नये समाज की ओर बढ रहे ह। एक दिन वह आयगा ही। लेकिन यह मानना या पहचानना भी उचित होगा—और अगर आप का वैज्ञानिक चिन्तन का आग्रह है तो वैज्ञानिक दृष्टि से उचित होगा—कि जब वह समाज आयेगा तो वह वास्तव मे वह नही होगा जिस की आज हम कल्पना करते है, क्या कि तब हम भी वास्तव म वे नही होंगे जो आज कल्पना कर रहे हैं। एक परिवर्तन होता है तो सैकडो और परिवर्तन हो जाते हैं जो न हमारे नियोजित थे, न हमारी कल्पना की परिधि मे थे। न ही ये सारे अनियोजित अनपेक्षित और अकल्पित परिवर्तन उसी क्षेत्र या आयाम तक सीमित रहते हैं जिस म पहला परिवर्तन हुआ होता है।

दो-एक अलग-अलग क्षेत्रो से उदाहरण ले लीजिए। जिन गाँवो म बिजली नही थी उन के घरो मे बिजली की रोशनी आती है तो इतना ही नही होता कि रेडियो भी आ सकता है या बिजली का चूल्हा भी जल सकता है या कुएँ की घिर्री डोरी के बदले पम्प लग सकता है। बात केवल ऊर्जा के एक रूप की सुलभता अथवा बिजली चालित यन्त्र की सुलभता तक नही रहती। घर मे बिजली आने म दूसरो के चेहरे भी अधिक स्पष्ट दीखने लगते हैं और हमारे सारे सामाजिक रिश्ते बदलने लगते हैं। बिजली से दीवारो का उखडा हुआ पलस्तर अधिक साफ दीखने लगता है, मकडी के जाले भी, और घर भी और छोटा हो जाता है। एक बार फिर हमारा समाज बदलता है और मानवेतर प्राणियो के

साथ हमारे सम्बन्ध बदलते हैं। गली म या केवल चौपाल पर भी बिजली की बत्ती लग जाने से हम गली की गन्दगी साफ दीखने लगती है और आकाश म तारे दीखना बन्द हो जाता है। रेडियो सुनने के अभ्यस्त कान पशु-पक्षियों की बोली सुनना भूल जाते हैं बल्कि उन की पहचान भी खो देते हैं। उदाहरण का इतना विस्तार काफी है, यद्यपि प्रभाव यहीं तक समाप्त नहीं हो जाता है। सक्षेप म कहूँ कि घर म बिजली आते ही एक तरफ टक्नोलाजी से मिलने वाली सुख सुविधाओं का विस्तार होता है और हमारे जीवन की समृद्धि बढती है तो दूसरी तरफ हमारे निजी जीवन के वयक्तिक और दिगन्त व्यापी नाते टूट जाते हैं और हमारा जीवन सकुचित हो जाता है। सब से दुखद परिणाम यह होता है—या हो सकता है—कि हमारे सवदनों का और सहानुभूति का ससार छोटा होता जाता है। बिना सचेतन कम के इस स्थिति म सशोधन सम्भव नहीं है—और यह सशोधन साहित्य के द्वारा होता रह सकता है। इसे आप चाहे तो एक उपयोगी विषयान्तर मान लें।

एक और उदाहरण जिन घरों मे लोग फश पर बैठते थे उन मे मेज और कुर्सी का प्रवेश। टैक्नोलॉजी की दृष्टि से लकडी की मेज और कुर्सी (जिन के जोडो की सिलाई भी लकडी की खूटियों से ही हो सकती है, लोहे के कील-पेंच भी आवश्यक नहीं हैं) कोई बहुत बडी उपलब्धि नहीं है। लेकिन मेज कुर्सी के आते ही फश की सफाई के साथ हमारा रिश्ता बदलता है घर-आगन की लिपाई पुताई के साथ रिश्ता बदलता है जूता पहने हुए भीतर आने या न आने के अभ्यास बदलते हैं उठने बैठने का ढग बदलता है, रीढ और स्नायुओं की सहज स्थितियाँ बदलती हैं—और यहाँ तक कि हमारा सास लेने का ढग भी बदल जाता है।

फिर मेज कुर्सी के साथ या पीछे-पीछे अगर थाली कटोरी के बदले प्लेट और तश्तरी आती है तो परिवतन के और भी कई चक्र आरम्भ हो गये होते हैं जिन सब का हमारी जीवन परिपाटी पर इतना और ऐसा प्रभाव पडता है कि उस की पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

सूत्र रूप म कहूँ कि ऐसा नहीं है कि कल्पनाशील प्राणी हो गये होने के नाते मानव भविष्य की सारी सम्भावनाओं की कल्पना कर ले सकता है। मनुष्य एक अपूर्वानुमेय प्राणी है या कि पूरी बात कहनी हो तो या कह सकते हैं कि एक ओर मनुष्य की बुद्धि उसे पूर्वानुमेय बनाती है और उसे यह सामर्थ्य देती है कि अपने भविष्य का न केवल अनुमान कर सके बल्कि उसे बहुत दूर तक नियोजित और नियन्त्रित भी कर सके उसे बदलने का उपक्रम भी करता रह सके, दूसरी ओर उस की चेतना

उसे अपूर्वानुमेय भी बनाती है बल्कि लगातार उस की अपूर्वानुमेय सम्भावनाओं का विस्तार भी करती जाती है।

हम लगातार वह होते जायेंगे जो हम होना चाहते हैं। हम कभी वह नहीं हो गये होंगे जो हमने होना चाहा।

एक विशेष प्रकार के लेखन को परम्परा का प्रवर्तक मान लिये जाने के बारे में आप की निजी प्रतिक्रिया क्या है?

प्रश्न शायद प्रयोगशील या नयी कविता के बारे में है। यदि ऐसा है तो मैं कहूँ कि किसी आन्दोलन या रचना की धारा या शैली का प्रवर्तन करने में मेरी ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी, न है। प्रवर्तन का उत्तरदायित्व थोप दिया जाना एक अप्रासंगिक उलझाव है, रचना कर्म में एक बाधा है। उस बाधा का काफ़ी अनुभव मुझे है, उसे राह से हटाने में मुझे कम प्रयास नहीं करना पड़ा है।

जो लोग सामाजिक स्थिति की दुहाई देते हैं और अज्ञेय को असामाजिक घोषित करते हैं वे स्वयं नहीं समझते कि रचना-कर्मी की सामाजिक स्थिति क्या होती है और पिछले ५०-६० वर्षों में हिन्दी भाषा में रचना करने वाले की सामाजिक स्थिति क्या रही है। एक हद तक यह बात सभी भारतीय भाषाओं के रचना-कर्मियों के लिए कही जा सकती है, लेकिन हिन्दी लेखक के लिए उस का अतिरिक्त महत्त्व है क्यों कि एक ऐसा भी क्षेत्र है जिस में हिन्दी को कुछ दूसरी भारतीय भाषाओं का भी विरोध सहना पड़ता है। हिन्दी का रचना-कर्मी केवल रचना नहीं करता बल्कि लगातार उस रचना का ग्रहीता पक्ष बनाने के लिए भी बाध्य है। वह कविता ही नहीं रचता बल्कि कविता के लिए एक समाज भी रचता है। समाज-रचना का यह पक्ष उन कवियों के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं था जो राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग थे। उन्हें पूरे समाज की अनुकूलता बनी-बनायी मिलती थी क्यों कि वहाँ कवि और काव्य का सामाजिक (पाठक या श्रोता) सब एक ही लक्ष्य से जुड़े हो कर सहानुभूति के बन्धन में बँधे होते थे। अंग्रेज़ी उस सहसंवेदन के घेरे से बाहर थी, बल्कि दूसरी भारतीय भाषाएँ भी हिन्दी को अपना अनुमोदन देती थीं।

काव्य-रचना के साथ-साथ समाज की भी रचना करने की आवश्यकता छायावाद के साथ आरम्भ हुई उस धारा के कवियों को पहले-पहल भीतर से भी विरोध मिला था और उन्हें हिन्दी भाषी समाज के भीतर एक और सहृदय समाज बनाने की आवश्यकता पड़ी जिस के साथ समान संवेदन की प्रणालियाँ रची जा सकीं।

मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में छायावाद की अनुगूँज अवश्य

मिलेगी, लेकिन मेरी सारी रचना प्रवृत्ति, मेरी चिन्तन-पद्धति, मेरी वैज्ञानिक चेतना और मेरा भाषा-संस्कार सब छायावाद के विरुद्ध जाते थे। या यों कह लीजिए कि मैं जानता था कि मेरे समय के समाज का काव्य-संवेदन और संस्कार उस सब के विरुद्ध था जो मेरी रचना के साथ अनिवार्यतः जुड़ा। क्या कि मैं इस बात को जानता था और मुझ को अनेक बार सामाजिक विरोध का तीखा अनुभव भी कराया गया, इस लिए जब काव्य और जैसे साहित्य का रचा जाना मैं एक समकालीन अनिवार्यता मानता था वैसे काव्य और साहित्य के लिए एक समाज की रचना भी मुझे आवश्यक जान पड़ी। एक बार फिर स्पष्ट कर दूं कि समाज बनाने का यह काम रचना-कर्म से बिल्कुल अलग प्रकार का काम है और अलग प्रकार की क्षमता भी मांगता है—ज़रूरी नहीं है कि रचनाकर्मी यह काम करे ही। वह अपनी शक्ति को केवल अपने रचना कर्म के लिए सँजोय रख सकता है और संवेदन के निर्माण के लिए आलोचना, व्याख्या शास्त्र विवेचन, मूल्यांकन, साहित्यिक दीक्षा आदि को अपने क्षेत्र से बाहर मान सकता है। पंडित आलोचकों से लोहा लेने की कोशिश को वह एक अनावश्यक जुझारू भंगिमा मान ले सकता है। जो ऐसा करता है उसे मैं दोष भी नहीं देता। अपनी शक्ति को पहचान कर उस का श्रेष्ठ और सही उपयोग करना उस के लिए सर्वथा वाञ्छनीय है। आप देखिए कि प्रमुख छायावादियों में 'निराला' रचना भी करते रहे और समाज से लड़ते भी रहे—आलोचक समाज और पंडित समाज से भी। दूसरी ओर सुमित्रानन्दन पन्त ने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया। निराला' ने लड़ने का दण्ड भी पाया लेकिन नये प्रकार की काव्य रचना के लिए एक समाज भी वह बना गये। यह कहना तो एक राजनीतिक फ़तवा है कि 'निराला' जन भाषा लिखते थे अथवा जनता की बोली के निकट थे। सच्चाई यह है कि जैसा वह लिखते थे उस के लिए एक समाज भी उन्होंने ठोक पीट कर तैयार किया—और फिर 'मार-मार कर हकीम बनाने वाले नुसखे से पंडित आलोचक भी पाये। उन के लड़ने से दूसरों को भी लाभ मिला लाभ का ऐसा समाजीकरण हमेशा होता ही है। परवर्ती साहित्यकारों को भी छायावादी काव्य के संघर्ष के लाभ मिले—उन के लिए उन्हें फिर से नहीं लड़ना पड़ा और वे मोर्चे को आगे ले जा सके।

परवर्ती काल में भी आप देख लीजिए कि शमशेरबहादुर सिंह कभी लड़ाई में नहीं पड़े अपनी रचना में रहे और उस के लिए सामाजिक बनाने का काम उन्होंने बिल्कुल नहीं किया। इसे आप

प्रयाजन की शुद्धता भी कह सकते हैं, अन्तरमुखीनता भी वह सकते हैं, शान्तिप्रियता भी वह सकते है, अपनी शक्ति की सही पहचान और उस का श्रेष्ठ उपयोग भी कह सकत हैं। दूसरो ने ही भाषा, सवेदन, वस्तु, दष्टि आदि के स्तर पर लडाइया लडी—कवियो ने भी और आलोचको ने भी—और एक नये समाज का निर्माण किया। वह समाज शमशेर को भी मिला और वह उन की कविता का सम्मान करता है।

दूसरी ओर मैं शुरू से ही इस ओर भी सजग और क्रियाशील रहा। आप देख लीजिए कि यह बात रचना-कर्म के बारे मे नहीं है, समाज की दीक्षा के बारे मे है। यानी यह काम करने वाला इस काम से कवि के रूप मे न छोटा हो जाता है, न बडा यह काम ही दूसरे प्रकार का है। मैं समझता हूँ कि यह काम मैंने सजग रूप से किया और इस मे मुझे सफलता भी मिली। मुझे उस सफलता का दण्ड भी मिला और उस के लाभ भी मिले। मेरे समय के दूसरे अधिसख्य कविया का उस के लाभ तो मिले लेकिन दण्ड नही क्यो कि वे लडाई मे उस हद तक शामिल नही थे। (मुक्तिबोध को लाभ भी मिले और कुछ दण्ड भी मिला—लेकिन वह दण्ड ठीक इस लडाई के कारण नही था बल्कि एक दूसरी लडाई के कारण था, वह दूसरी लडाई अपने भाषा समाज अथवा साहित्य समाज के भीतर की लडाई उतनी नही थी जितनी राजनीतिक सत्ता के क्षेत्र म।)

आप के प्रश्न के अनुपात मे उत्तर शायद लम्बा हो गया है। लेकिन ये बातें कहने की जरूरत थी और शायद आप के प्रश्न के पीछे विचार धाराओ की जिस टकराहट का बोध रहा होगा वह इन्ह प्रासगिकता भी देती है।

आज की पीढी के गुण दोषो की व्याख्या आप कसे करेंगे? वह एक अथ मे पिछली पीढी के गुण दोषो का परिणाम मानी जा सकती ह—इस सम्बधात्मक स्तर पर अपना विचार स्पष्ट करें?

पीढियो की दष्टि से सोचने लगें तो काव्य की हर पीढी का अपना व्याख्याता होता है और होना चाहिए। पहले की पीढी बाद की पीढी की रचना की व्याख्या करे तो यह ठीक नही है। बल्कि इस से उलटा एक हद तक उपयोगी भी होता है क्यो कि नयी पीढी की रचना पिछली पीढी की रचना को ज़मीन बना कर ही खडी होती है। लेकिन इधर की रचना मे भाषा के प्रति एक गहरी उदासीनता, बल्कि भाषा के सम्बध मे एक व्यापक अज्ञान मुझे बहुत क्लेश देता है। जन भाषा नाम की एक कल्पित और सस्कार रहित भाषा के नाम पर एक प्रकार का अधेर है तो 'सम-कालीन सवदन' के नाम पर अग्रेज़ी की खिचडी दूसरे प्रकार का अधेर

मचा रही है। ऐसे में हिन्दी की बात करना ही जोखम का काम है। 'अच्छी हिन्दी' का नाम लेने वाला तो तुरत आभिजात्य के अपराध में मारा जायेगा। लेकिन समाज में ऊँचा दीखने की कोशिश में जो कोई हिन्दी भाषा और व्याकरण को अंग्रेजी शब्द और मुहावरे से भ्रष्ट करेगा उस पर आभिजात्य का लांछन नहीं लगेगा। दूसरी बात जो मुझे कष्ट देती है छन्द और लय का अज्ञान है। अन्ततोगत्वा तो यह बात भी भाषा की ही बात है। लेकिन रचना के स्तर पर भाषा केवल कथ्य की पोषक या वाहक भर नहीं है, वह सामाजिकता की आधार भूमि है। मुझे उस आधार भूमि की चिन्ता है। जिस स्तर पर मैं कथ्य को रचना से अलग कर सकता हूँ उस स्तर पर तो अपनी बात चाहे जिस भाषा में हो, कह दी जा सकती है।

'वत्सल निधि' की मौलिक प्रेरणा पर कुछ प्रकाश डालें? क्या वह आप को क्रियान्वयन के स्तर पर सफल लग रही है?

इस प्रश्न का उत्तर मैं एकाधिक बार दे चुका हूँ। बल्कि अब तो वह प्रश्न मुझ से पूछा भी नहीं जाना चाहिए—उस के पूरे न्यासधारी मण्डल से पूछा जाना चाहिए—मैं उन में से एक हूँ। क्रियान्वयन के स्तर पर अभी तक जितना काम हुआ है मुझे तो उस से सन्तोष है मात्रा में भी और गुणात्मकता में भी, वह यथेष्ट है। या यह फैसला भी उन्हीं को करना चाहिए जिन्हें वह काम निवेदित है।

ऐसा क्यों है कि उन व्याख्यान मालाओं में जिन चर्चाओं या सरोकारों को उठाया जाता है वे किसी भी रूप में आज की लेखक मानसिकता में तादात्म्य की स्फुरणा नहीं जगाते? उस तादात्म्य से परे भी आप के मन में साहित्य की कोई सैद्धान्तिक स्थिति है?

आप का प्रश्न जिस मान्यता पर आधारित है वह यदि सही होती तो मुझे कहना पड़ता कि यह उस लेखक का दुर्भाग्य है जिस में व्याख्यान मालाओं में उठाये हुए प्रश्न कोई स्फुरणा नहीं जगाते। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। 'वत्सल निधि' के लेखक शिविरों में जो सामान्य विषय रखे गये हैं या सामान्य विषयों के अलावा जिन प्रश्नों पर चर्चा होती रही है वे सभी साहित्य रचनाकार के लिए जीवन्त प्रश्न हैं—देश में ही नहीं, सारे संसार में। ऐसा तो हुआ है कि कुछ युवा लेखक शिविर में आने से पहले कुछ प्रश्नों के प्रति उदासीन रहे हैं, लेकिन शिविर की चर्चाओं के बाद इन प्रश्नों के बारे में उन का मनोभाव बिल्कुल बदल गया है—उन्होंने इसे स्वीकार करते हुए स्वयं कहा है कि वे अनुभव करते हैं कि इन निहायत जरूरी प्रश्नों की तरफ उन का ध्यान पहले नहीं गया था न किसी ने

इधर उन का ध्यान दिलाया था। ऐसी प्रतिक्रियाओ से मुझे आश्चय नही होता क्या कि सच्चाई यह है कि इस समय के सभी साहित्यिक आन्दोलन —नही, उन्हे 'साहित्यिक' कहना गलत है उन का सही वणन है 'साहित्यिक क्षेत्र मे उठाये जा रहे राजनीतिक मतवादी आन्दोलन'— एक ऐसी वैचारिक एकरूपता लाने की कोशिश कर रहे है जिस के परिणाम साहित्य के लिए भयानक ही हो सकते है। ऐसे राजनीतिक मतवादो का क्या कि एक ही लक्ष्य है, सत्ता का अधिग्रहण इस लिए दूसरे लक्ष्यो या सरोकारो को वे महत्त्व नही देते और उन से मिलने वाली प्रेरणा को प्रेरणा नही समझते। यह स्वाभाविक भी है। रचना के क्षेत्र मे जो स्फुरण होता है या जो प्रेरणाए मिलती है वे उस कोटि की प्रेरणा से बिल्कुल अलग होती है जिन से लोग नारे लगाते है।

शिविरो मे जिन विषयो की चर्चा होती है या रचना कम सम्बन्धी जिन प्रश्नो पर अनुभव का आदान प्रदान होता है उन का उद्देश्य यह कदापि नही है कि सब लोग एक ही परिणाम पर पहुचें या एक ही तरह से सोचें। हा, अगर मेधा और चेतना की स्वतन्त्रता मे ही विश्वास बनाये रखने को ही आप ऐसी कोशिश कहे तो अलग बात है। अब तक के शिविरो से जो पुस्तकें निकली है और जो अब प्रेस मे है वे स्वय अपनी बात कहती है।

'वत्सल निधि' के तहत हुए शिविरों, व्याख्यान मालाओ, यात्राओ और अन्य साहित्यिक कायकलापों मे, भागीदारी मे अपने चयन के बिन्दुओ पर क्या कुछ प्रकाश डालेंगे? चुनाव और परिणाम के स्तर पर क्या बात मन मे मुख्य रहती है?

व्याख्यान मालाए सावजनिक हैं। वक्ताओ के नाम प्रकाशित होते है। प्रेस भी आमन्त्रित होता है। अनन्तर व्याख्यान छपते भी है। शिविरो से निकली हुई पुस्तको मे उस मे भाग लेने वालो की सूची भी दे दी जाती है। शिविरो की चर्चाए सावजनिक नही होती लेकिन आरम्भ मे और अन्त मे हम एक एक खुली सभा मे शिविर के उद्देश्यो प्रस्तावित विषयो की तथा चर्चा के परिणामो और शिविर की उपलब्धियो का ब्यौरा प्रस्तुत कर देते हैं। अनन्तर पुस्तक तो छपती ही है। चयन के लिए सभी न्यास-धारी नाम प्रस्तावित कर सकते हैं शिविरो मे पहले आमन्त्रित सभी नये पुराने साहित्यकारो से भी अनुरोध किया जाता है कि वे भविष्यत् शिविरो के लिए उपयुक्त विषय, वरिष्ठ लेखको के नाम तथा नवोदित प्रतिभाओ के नाम सुझाते रहे। व्याख्यान हिन्दी मे होते हैं। शिविरो का काम भी हिन्दी मे होता है यद्यपि हिन्दीतर भाषाओ के साहित्यकार भी

उन मे साधनो की सीमा ध्यान म रखते हुए आमन्त्रित होत हैं। 'मुख्य बात' शिविरो क लिए यह होती है कि आमन्त्रित व्यक्ति एसा हो जो शिविरो का लाभ दे सके या उस से लाभ पा सके। व्याख्यान मालाओ के लिए 'मुख्य बात' यह होती है कि वक्ता अधिकारी विद्वान् हो, हिन्दी म व्याख्यान दे सके, ज्ञान वद्धन मे और रुचियो के विस्तार और सस्कार म योग दे सके। ऐसा भी होता है कि प्रथम वरीयता के विद्वान् नही आ पाते और फिर दूसरे आमन्त्रित होते हैं।

एक लेखक की हैसियत से आप की 'हैबिट आफ रिकार्डिग' को जानना उत्सुकता का विषय है। किन चीजों को आप नोट करते हैं, किन को छोड देते हैं? उस चयन का आधार क्या है? क्या जीवनानुभव का साराश रचना-अनुभव मे तब्दील किया जा सकता है? वसा सन्तोष क्या इस लम्बे रचना-काल के अनन्तर आप के मन मे है?

आप के प्रश्न के तीन भाग हैं। पहले भाग का उत्तर तो रचनाओ को ही देना चाहिए क्या कि वास्तव म तो प्रश्न का उत्तर य रचनाए ही हैं—यानी प्रासगिक उत्तर। अपनी मनोरचना के बारे म कोई लेखक और क्या कह सकता है? नि सन्देह मानव मस्तिष्क एक बडा दक्ष यन्त्र है—उस की विलक्षण दक्षता मे आत्म चेतना और आत्म-सबोधन की क्षमता भी शामिल है। इस लिए एक हद तक तो वह पहचान सकता है और पहचानता रह सकता है कि वह किन चीजो को नोट करता है किन को छोडता है किन को स्मृति म अकित कर लेता है और किन को स्मृति पटल से मिटाता चलता है। लेकिन इस सारी प्रक्रिया की एक सहज सीमा तो है ही। इस के अलावा यह प्रश्न भी सगत है कि रचना-क्रम म सहज स्फुरण का योग कहाँ तक होता है। वह बना रहने देना चाहिए। मेरा विश्वास है कि आत्म चेतना यद्यपि सम्भव है वाञ्छनीय है, बढायी जा सकती है और निरन्तर बढती रहनी चाहिए, फिर भी सजन-क्रम म एक ऐसी भूमि तक पहुचा जाता है या जा सकता है जहाँ अपूर्वानुमेय और अलौकिक सस्पर्श मिले। सभी रचनाएं उस भूमि पर नहीं होतीं, लकिन जो होती हैं व किसी एक भाषा को ही नही मानव मात्र को समृद्धतर बनान वाली होती हैं।

लेकिन कौन सी रचना ऐसी हुई इस का उत्तर तो लेखक नही देता, रचनाए ही द सकती हैं।

प्रश्न का दूसरा अनुभाग हाँ, मेरा विश्वास है कि रचना-अनुभव म लगातार जीवनानुभव का योग होता रहता है। सीधा एक और एक

दा' जैसा समीकरण उस क्षेत्र में नहीं बनता और योग-फल बिल्कुल अपूर्वानुमेय भी हो सकता है अवश्य। लेकिन दोनों पक्षों में अनिवार्य सम्बन्ध भी होता है। इस लिए 'तबदील किया जा सकना' में प्रश्न का आशय यदि यह है कि क्या योजना बना कर कोई परिणाम पाये जा सकते हैं तो मैं कहूंगा कि नहीं, लेकिन अगर प्रश्न का आशय यह है कि एक क्षेत्र के अनुभव का ऐसा रूपान्तरण होता रहता है या नहीं जो दूसरे क्षेत्र को प्रभावित करे तो मैं कहूंगा कि यह एक सहज और अनिवार्य प्रक्रिया है।

रही सन्तोष की बात। रचना-कर्म से सन्ताप लेखक को तब होता है जब वह कर्म से अवकाश ले लेता है—पीछे देखने की फुरसत पा लेता है। वहां अभी नहीं पहुंचा हूं और सन्तोष भी मुझे नहीं है। हां, जो पूरा कर के पीछे फेंक चुका हूं उस की स्मृति मुझे है, और अनुभव तथा कर्म का अनुक्षण मूल्यवान स्मृति का एक धर्म है। उस क्षेत्र का भी बोध मुझे है—ऐतिहासिक बोध भी और आनुभविक बोध भी—जिस पीछे छोड आया हूँ या छोडता जा रहा हूं। रचना के मामले में सन्तुष्ट न होते हुए भी कह सकता हूँ कि अभी तक तो परिपक्वता की दिशा में बढता आया हूं। या अभी और भी सीखने को है और सीख सकने का सामर्थ्य भी और उस की प्रवृत्ति अभी मुझ में है।

जीवन के विधान में व्यक्ति का क्या स्थान है? तुच्छता, सार्थकता, निरर्थकता इन 'एम्पीरिकल' स्तरों पर आप उस भाव को मुख्यत कहां जोडेंगे?

व्यक्ति रूपी यह इकाई क्या है, और जीवन के विधान में उस का क्या स्थान है, न केवल यह बहुत बडा प्रश्न है बल्कि इस का कोई एक-स्तरीय उत्तर हो ही नहीं सकता। आसान-सा या इकहरा दीखने वाला उत्तर ऐसे शब्दों के सहारे ही दिया जा सकता है जो स्वयं अनेक स्तरीय अर्थ रख सकते हैं।

सामान्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय इकाई का व्यक्तित्व तीन वर्ष से ले कर सात वर्ष की उम्र में बन जाता है। यह व्यक्तित्व के एक स्तर का विकास है। फिर समाज की नियामक सत्ता की पहचान, सामाजिक मूल्यों की चेतना और परस्पर निर्भरता की स्वीकृति स्वास्थ्य के लिए भी सामाजिक संस्तुति की अपेक्षा और लोकापवाद का भय, सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति में योगदान की आवश्यकता, इत्यादि—ये सब एक सामाजिक व्यक्तित्व के विकास का अंग हैं। फिर अपने समाज से परे वृहत्तर मानव समाज के साथ एकात्म्य, फिर मानवेतर प्राणियों के

साथ सम्बन्ध की पहचान के आधार पर विकसित होने वाली एक प्राणि धर्मिता और फिर पूरे परिवेश में परस्पर उपजीविता की समझ के आधार पर विकसित होने वाला एक वैश्विक अथवा जैविक व्यक्तित्व—ये सब भी निजी व्यक्तित्व की पहचान के आयाम हैं। अगर सूक्ष्मता की दिशा में बढ़ते हुए चलें तो यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे के पूरे सिद्धान्त तक भी पहुँच सकते हैं। जिसे हम मानवीय इकाई कहते हैं वह हजारों जातियों के जीवाणुओं में उपनिविष्ट एक ब्रह्माण्ड है मनुष्य का मुँह लाखों-करोड़ों जीवाणुओं का निवेश है उस का पाचन-यन्त्र करोड़ों जीवाणुओं की अनुक्षण सहायता के बिना काम ही नहीं कर सकता इत्यादि। तब इकाई कौन है, व्यक्तित्व किस का है? इसी लिए मैंने कहा कि जीवन के विधान में व्यक्ति के स्थान के प्रश्न का उत्तर एक स्तरीय नहीं हो सकता—स्थान, व्यक्ति विधान और जीवन सभी की अनेक स्तरीय परिभाषा की आवश्यकता होती है। और यदि मोटे तौर पर' व्यक्ति की सार्थकता अथवा सफलता की बात करनी हो तो शायद जीवन के विधान की बात ही नहीं की जा सकेगी बल्कि जिन बातों की चर्चा अपेक्षित होगी उन का उल्लेख ही आपने नहीं किया—जैसे परिवार समाज, इत्यादि अथवा वे लक्ष्य जिन्हें 'पुरुषार्थ' कहते थे—धर्म अर्थ काम—मोक्ष को इस सन्दर्भ में छोड़ भी दें तो।

तुच्छता, सार्थकता निरर्थकता—मूल्यांकन सम्बन्धी ये प्रश्न ही छोटे से छोटे कर्म के बारे में भी उठते हैं। शायद चेतन स्तर पर हमेशा हम इन्हें नहीं उठाते, लेकिन हमारी चेतना में एक चिर-सजग विचारक बैठा ही रहता है। कभी हम चेतन स्तर पर प्रत्यवलोकन करते हुए बड़े पैमाने पर भी सार्थकता, निरर्थकता के प्रश्न उठाते हैं। तब उस का विचार जीवन की और विधान की परिभाषाओं से जुड़ जाता है।

प्रेरणा, एकाग्रता और श्रम—इन तीनों तत्त्वों में से रचना के लिए किस को आप प्राथमिकता देते हैं?

श्रम थोड़ा-बहुत हर रचना में होता है। या यों कह लीजिए कि ऊर्जा का व्यय हर रचना में होता है। जहाँ उसे व्यय करने में या उस के उपरान्त थकावट हो वहीं तो श्रम मानेंगे—अगर केवल तनाव से मुक्ति हो तो क्या उसे भी श्रम कहेंगे? यों वास्तव में केवल ऐसी स्थिति रचना में होती नहीं है, मुक्ति की स्फूर्ति भी होती है और श्रम का भार भी। लेकिन श्रम करने से ही रचना नहीं हो जाती, इस लिए उसे प्राथमिकता तो कैसे दी जाये? लगातार श्रम कर सकने का सामर्थ्य अवश्य रचनाकार में होना चाहिए—कभी-कभी एक प्रकार की आविष्ट अवस्था में रचना

की जाती है और आवेश घटो बल्कि दिना तक बना रह सकता है। मैंने कहा 'आविष्ट अवस्था'—चालू मुहावरे मे कह लीजिए कि भूत सवार होता है फिर जब छोड कर जाता है तो मानो सारी ऊर्जा निचोड कर ले गया हाता है। लेकिन यह उर्जा का सचय और यो निचुड गये होने का बोध शरीर के या मास पेशिया के या स्नायु-यन्त्र के स्तर पर नही होता। कुछ मानसिक स्तर पर हाता है लेकिन उस से भी अधिक जिस स्तर पर होता है उस के सही नाम से आप को ड न लगे तो कहूँ कि आध्यात्मिक स्तर पर होता है।

प्रेरणा—हा, प्रेरणा का भी महत्त्व है। लेकिन प्रेरणा तो अपने वश की बात नही है, उस को प्राथमिकता दे देन का मतलब है पूरी तरह किसी बाहरी शक्ति या शक्तियो के आश्रित हो कर बैठ रहना जब प्रेरणा होगी तब लिखेंगे, नही तो बैठे है।

रह गयी एकाग्रता। वह अपने वश की बात है। और वह हल भी देती है और वहा एक समीकरण भी बनता है जो न प्रेरणा के बारे म बन सकता है न श्रम के। इस लिए शायद एकाग्रता का ही प्राथमिकता देनी चाहिए। वही पूरी तरह वश्य है और वही शायद साधना का लक्ष्य है। शायद यह भी कह सकते है कि सधा हुआ यन्त्र ही प्रेरणा भी अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है और ऐसा श्रम भी कर सकता है जिसे दक्ष श्रम कहा जा सके—यानी जिस मे उत्पादनशीलता का अनुपात सर्वोच्च है।

रचना मे 'स्पोटेनियटी' अथवा सौष्ठव—किस को अर्जित अथवा सचित रखना श्रेयस्कर है?

इस का उत्तर बहुत कुछ आप के पिछले प्रश्न के उत्तर म निहित रूप से दे दिया गया है। ऐसी कोई स्पोटेनियटी नही होती जिस के इतिहास मे कही तपस्या यानी लम्बा और गहरा श्रम न रहा हो। दूसरी ओर सधी हुई वीणा बेसुरा नही बोलती—यानी सौष्ठव का विचार स्पाटेनियटी' के विचार का प्रतिमुखी नही होता। 'यह या वह' वाले प्रतिपक्ष वहा नही बनते, यह' मे 'वह' निहित रूप से व्याप्त रहता है।

निश्चय ही यह आदर्श स्थिति है और ऐसा नही है कि रचनाकार हमेशा आदर्श को पा चुका होता है।

इस समय की आप को मानसिकता का मुख्य स्वर क्या है? उसे कह सकने योग्य पारदर्शिता क्या व्यक्तित्व मे सम्भव है?

उत्तर देने के लिए पहले प्रश्न की पूछ पकडता हूँ। जैसी पारदर्शिता की बात आपने की है—यानी अपने ही को पारदर्शी हाने की बात—हो सकता है कि वह चरम साध्य हा। लेकिन जब सिद्ध हा जाये तो रचना

बार बचा रहेगा इसमें संदेह है। रचनाकार अथवा कला सर्जक है तो उस में वही कर्तृत्व भाव शेष है। यानी उस चरम कोटि की पारदर्शिता नहीं है। शायद निरन्तर उस ओर बढ़ने की व्याकुलता के अंतराल में ही सारी रचना होती है। उस पारदर्शिता में देखने वाली आँख और दीखने वाली स्फटिक शिला में अभेद हो जाता है—हो जाता है' मानें 'सैद्धान्तिक परिभाषा में अभेद हो गया होगा'। मैंने वहीं 'आँख को देखने वाली आँख' की बात कही है। सर्जक का संघर्ष वही है।

इतनी तो हुई पूंछ पकड़ने की बात। जहाँ तक 'मानसिकता के मुख्य स्वर' की बात है वह स्वर अगर उच्चारित है तो श्रोता का हो गया है जो रचना सामने आती है उसी में दिखना चाहिए और उसी से पूछना चाहिए। और अगर वह अभी उच्चारित नहीं हुआ है तो मान लेना चाहिए कि अभी वहाँ रचना नहीं है, उस से पहले का आत्म-संघर्ष है। उस अवस्था में रचनाकार को अपने निजी अकेलेपन में अपनी अकेली लड़ाई लड़ लेने देना चाहिए—अनावश्यक सवालों से उस का अवधान तोड़ना नहीं चाहिए उसे ऊर्जा का दुर्व्यय करने को बाध्य नहीं करना चाहिए।

आप के 'सटिसफेक्शन' और आप के 'रिग्रेट'?

मेरे सटिसफेक्शन? मेरा सारा जीवन। मेरे रिग्रेट? मेरा सारा जीवन। अच्छा ही है कि अभी भी मुझे लगता है कि बही खाता फैला कर रोकड़ जाँचने का न वक्त है न फुरसत। जीवन अभी अनाविष्कृत है।*

* इस दूसरे खंड के प्रश्न लिख कर पूछे गये थे और उत्तर भी लिखित दिये गये थे—अगस्त १९८५ में।

रचना क्या, क्यों, किन के लिए, किन के बीच

नन्दकिशोर आचार्य के साथ एक संवाद

आचार्य वात्स्यायन जी, पहला सवाल जो मैं करना चाहता हूँ, वैसे तो आप के पाठक के नाते मुझे उसे आप की रचनाओं से ही जानना चाहिए। पर कुछ बातें आपने अन्यत्र कही हैं उन के साथ जब जोड़ कर देखता हूँ तो एक सवाल मेरे मन में उठता है कि एक कलाकार के रूप में, एक कवि के रूप में आप का मुख्य सरोकार क्या है? यह सवाल मैं इस लिए पूछना चाहता हूँ कि बोधगया शिविर में मुझे याद पड़ता है आपने कहा था कि कलाकार रूप की रचना करता है। बल्कि और सब चीजें तो समाज में हैं पर यह काम है जो वह करता है। दूसरी ओर कई दफा आपने कहा है कि वह मूल्यान्वेषण करता है, तो वह मुख्य सरोकार रूप की रचना है या मूल्यान्वेषण, आप कैसे इसे देखते हैं?

अज्ञेय देखिए, पहला जवाब तो आप जानते हैं। वह यह कि कवि की रचनाएँ जो कहती है, और कवि उन के बारे में जो कहता है उस में दोनों में सामंजस्य ढूँढ़ना आप को ज़रूरी जान पड़े तो कम से कम कवि से उस में कोई मदद नहीं मिल सकती। यह बिल्कुल सम्भव है कि कविता के बारे में कवि जो कहता है उस में आपसी अन्तर्विरोध भी हो, समय-समय पर कही हुई बातों या एक समय में कही हुई बातों में भी। रचना में और उन में अन्तर्विरोध भी उतना ही स्वाभाविक है। रचना और दूसरी रचना में वैसा नहीं होता जब तक कि दोनों का हम रचना के स्तर पर विचार करते हैं। क्यों कि आपने सवाल इस रूप में पूछा है इस लिए भी जवाब रिकार्ड कर देता हूँ लेकिन आप जानते ही होंगे। दूसरी बात यह है कि अगर आप दो ही बातों तक सीमित कर देते हैं तो मुझे लगता है कि जो कुछ मैं कहता या सोचता या करता रहा हूँ उस में आप सिर्फ दो विकल्प क्यों रख रहे हैं? रूप की रचना करता है, मूल्य की चिन्ता करता है और इस के अलावा और भी बहुत से काम कवि या कि उस की रचना करती है। लेकिन अगर रूप को व्यापक अर्थ में लें तो उस में इन को शामिल किया जा सकता है। मूल्यों की चिन्ता भी आखिर रूप की रचना में योग देती है। रूप का एक पहलू यह है कि कविता जब एक चीज बन कर लिखे हुए या छपे हुए रूप में पृष्ठ पर आती है तो एक रूप तो वह है जो आप देख सकते

हैं। एक उस का मानस विम्ब है। एक उस के बाद ऐसा भी विम्ब है जिस में उस के चाक्षुष विम्बों का एक प्रतिरूप भी होता है और मूल्य दृष्टि की भी छाप उस में होती है। रूप जो बनता है वह मूल्य दृष्टि को छोड़ कर नहीं है उस को सम्मिलित कर के ही है। पूरा का पूरा समाज ही उस रूप का अंश हो जाता है। कविता में उस रूप के माध्यम से कवि का पूरा परिवेश भी होता है और वह पहचाना भी जाता है। आखिर जिस कवि के बारे में हम कुछ नहीं जानते उस के जीवन की परिस्थितियों को हम उसी रूप की खिड़की में से पहचानते हैं। इस का मतलब है वह वहाँ पर है। वह रूप की रचना करता है। इस का यह मतलब नहीं है कि कोई बुनियादी विरोध इस बात का दूसरी बात के साथ है कि वह मूल्य का चिन्तन भी करता है। सवाल का जवाब सोचने का एक दूसरा तरीका भी है कि आप यह सवाल उठायें कि कवि क्या-क्या नहीं करता। या कि हम सभी मान लेते हैं और आप भी प्रश्नकर्ता के रूप में भी मान लेंगे कि कवि रचना करता है तो किस चीज की रचना करता है? समाज की रचना वह नहीं करता, परिवेश की रचना वह नहीं करता, मूल्यों की रचना वह बहुत आंशिक रूप में ही करता है बहुत सी कविताएँ ऐसी होती हैं जिन में नहीं करता है या नहीं कर रहा दीखता है। भाषा की भी रचना वह नहीं करता, शब्द की भी रचना वह नहीं करता। एक-आध शब्द या कि जीवन भर में १०-२० शब्द रच दे तो बहुत बड़ी बात होती है। शब्द में अर्थ की रचना करता है तो उसी के सहारे वह रूप रचता है। तो जब उन में से कोई भी रचना वह नहीं करता तो आखिर किस चीज की रचना करता है। या तो हम यह कहना छोड़ दें कि वह रचना करता है, उस को सिर्फ कारीगर मान लें। जैसे बढ़ई कुछ चीजों को जोड़ कर कुछ बना देता है वैसे ही कवि भी बना देता है। यह नहीं कि वह यह काम कभी नहीं करता। यह भी उस के काम का एक अंश होता है।

हाँ, क्राफ्ट भी एक अंश है।

हाँ, रचना वह करता है तो फिर यह सवाल उठता है। उसी के अधीन यह भी है कि वह एक दिक् की भी रचना करता है और काल की भी रचना करता है। दिक् और काल की रचना करते हुए दोनों से मुक्ति की सम्भावना भी दिखाता है यानी मुक्ति की भी रचना करता है। लेकिन सब का सब रूप के नाते।

यह सवाल मैंने इस लिए पूछा दरअसल कि कई दफा इस बात को ले कर जब हम कला का मूल्यांकन करते हैं या उस का

रसास्वाद करते हैं तो उस के साथ भी एक सवाल मूल्यों का जुड़ा रहता है कि सभी कवि, सभी कलाकार रूप की रचना करते हैं लेकिन उन की जो मूल्य चिंता अलग-अलग दिशा मे जाती है ऐसा महसूस किया गया देखा गया। तब यह सवाल उठता है अगर हम यह मान लें कि रूप की रचना मे मूल्य की चिंता शामिल है या मूल्य की आंशिक रचना भी रूप की चिंता मे शामिल है तब भी यह सवाल उठता है कि फिर उस की कला की उत्कृष्टता की या उस की कसौटी क्या हो? यह सवाल मै इस लिए पूछ रहा हूँ कि इस बात को ले कर के अच्छे आलोचकों ने और कवियो ने भी अक्सर इस तरह के वक्तव्य दिये हैं, उदाहरण के लिए आप के ही सम्पादन मे 'तीसरा सप्तक' मे विजयदेव नारायण साही ने एक वक्तव्य दिया था जिस मे नीत्शे के बारे मे उन्होंने कहा कि उन के विचारों को वह जला देने लायक समझते हैं लेकिन एक काव्य-कृति के रूप मे उन की पुस्तक वह हमेशा अपने साथ रखना चाहते हैं। भगवतशरण उपाध्याय ने ठीक वही बात आप के उपन्यासो के बारे मे कही है कि वे कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं लेकिन वे मूल्य दृष्टि से सहमत नहीं। ऐसी स्थिति मे उत्कृष्टता का क्या प्रमाण होना चाहिए? स्वयं आप को किसी ऐसे द्वंद्व का सामना करना पड़ा है? आप तो बहुत पढ़ते भी रहे हैं?

एक तो बात यह है कि विचार से सहमत या असहमत भी हुआ जा सकता है। और कोई यह कह सकता है कि मैं इन विचारों से सहमत नही हूँ लेकिन रूप से सहमत या कि असहमत नही हुआ जा सकता। या तो आप को दीखता है या कि आप को नही दीखता है। आप यह नहीं कह सकते कि मैं इसे देखने से असहमत हूँ। जो दीखा उस का भी मूल्यांकन करने के बारे में आप की दृष्टियाँ अलग-अलग हो सकती हैं। मै समझता हूँ कि इस तरह की बात कोई कह सकता है और वह अर्थहीन नहीं है। कोई कह सकता है कि मैं इस अमुक व्यक्ति के विचारों से सहमत नही हूँ। लेकिन विचारों से सहमत नहीं हूँ यह बात वास्तव मे रचना के बारे में नही है यह तो उस व्यक्ति के विचारों के बारे मे है—जिस की रचना उसने नही की है। रचना के माध्यम से विचार भी व्यक्त हुए तो आप हुआ कीजिए विचारों से असहमत। विचारों को एक तरफ रख कर भी रचना पर विचार हो सकता है

सदर्भ मे यह सवाल इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि किसी कलाकार के विचारो को अनदेखी भी नहीं की जा सकती। अगर कभी लगता है कि वे विचार अस्वस्थ हैं तो उसे उत्कृष्ट कलाकार मानने मे या उस कला को मानने मे कुछ सकोच-सा होने लगता है। ऐसा नहीं होता ?

नही, एक तो वान्छनीय आप कहते हैं तो इस शब्द के आशय पर विचार होना चाहिए। यानी कोई एक परिणाम है जो कि आप का काम्य है। आप के लिए वह चीज वान्छनीय है जो आप को आप के चाहे हुए फल देती है। यह जरूरी तो नही है कि कवि ने भी वही चाहा हो या कि रचना भी वही चाहती हो। तो वह प्रभाव आप की दृष्टि मे अवान्छनीय होगा। लेकिन यह भी बिल्कुल सम्भव है कि समग्र मानव के लिए वह कल्याणकारी भी हो। अस्वस्थता की बात अगर कोई भी एक जो साधारण स्थिति या कि अवस्था या मानसिकता है उस से इधर-उधर जाना, किसी भी हद तक असाधारण होना भी अस्वस्थता है, तब तो कभी कोई कवि स्वस्थ नही होता, कोई रचना स्वस्थ नही होती।

इस अर्थ मे मैं नहीं कह रहा हूँ। मै उसी अर्थ मे कह रहा हूँ जिस मे विचार आप को अमान्य हैं। या इस तरह के और भी लेखक हो सकते हैं जिन के विचारो मे कुछ रुग्णता लगे लेकिन यह लगे कि कलाकार बडे हैं, कलात्मक उत्कृष्टता उन मे है। तो ऐसी स्थिति मे अगर उन की आलोचना—बल्कि मै तो कहूँगा कुछ लोग भर्त्सना भी करते हैं जो मै ठीक नहीं मानता—पर आलोचना अगर होती है इस आधार पर तो उसे क्यो गलत माना जाये ?

नीत्शे का ही एक उदाहरण सामने रखें तो उसने पूरी पश्चिमी सभ्यता के ही एक बहुत बडे रोग को पहचाना। वह स्वय भी स्वस्थ नही था। रोगी था—काफी विकट रूप मे रोगी था उस रोग का भी रोगी था जिस को उस ने पहचाना। उस के अलावा ऐसे रोगो का जो कि उस से जुडे हुए थे उन का भी रोगी था। लेकिन वह पहचान उस ने की जो पहले नही थी। तो हम उस को रोगी तो मानते है लेकिन उस पहचान का महत्व स्वीकार करते है क्या कि वह पहचान मनुष्य के, मानव मात्र के, स्वास्थ्य मे योग दे सकती है।

हा, यह कह सकते हैं कि उस रुग्णता की पहचान वह साहित्य मे कराता है। इस दृष्टि से तो वह काम का हो सकता है। पर उस

का समाज पर जो असर पडता है उसे हम कैसे ठीक मानें ? यह सवाल इस लिए मैं और पूछना चाह रहा था कि आपने ही एक दफा कहा था

नीत्शे का प्रभाव समाज पर पडा। जिस तरह की आलोचना का उल्लेख आप कर रहे हैं वह भी उसी समाज मे से आ रही है जिस का नीत्शे एक अंग था जिस को उसने प्रभावित किया—और समाज का बहुत बड़ा भाग, आलोचक मे भी अधिसंख्य लोग, उस की अन्तर्दृष्टि से प्रभावित हुए— जो कि अच्छा प्रभाव है।

नहीं, मै यह सवाल इस लिए भी पूछना चाह रहा था कि एक दफा आप ही ने अपनी एक टिप्पणी मे यह कहा है कि सौंदर्य बोध और शिवत्व-बोध दोनो साथ ही रहते हैं। क्यो कि वे एक ही चेतना की उपज हैं। क्यो कि एक कलाकार जब सौंदर्य की रचना करता है तो शिवत्व का भाव उस मे सन्निहित रहता है क्यो कि वह एक ही चेतना से रचता है। तो ऐसी स्थिति मे अगर सौंदर्य बोध मे और मूल्य-बोध मे हमे कोई द्वैत दिखाई देता है या ऐसा लगता है कि सौंदर्य-बोध से हम सहमत हैं और मूल्य-बोध से हम सहमत नहीं हैं, तो क्या यह रचने वाली चेतना या ग्रहण करने वाली चेतना दोनों मे से कहीं किसी का कोई द्वैत नहीं दीखता ?

जहा तक मुझे याद है उस लेख म भी मैंने यही कहा है कि मैं चाहता हूँ कि इन दोनों मे कोई विरोध न हो, और मैं मान सकूं कि कोई विरोध नही है या विरोध नही होता तो इस का मतलब यह है कि उस का कोई प्रमाण मैं नही प्रस्तुत कर सकता। वहाँ भी मुझे यह लगा कि इस को प्रमाणित नही किया जा सकता कि वास्तव म एसा है। मैं चाहता हूँ कि रचना एसी हो कि दोनो कसौटियो पर खरी उतरे। मैं सोचता हूँ कि अब भी स्थिति तो वही है दोनो कसौटियाँ कविता पर लागू की जा सकें और दोनो पर कविता खरी उतरे तब हम उस को पूरी तरह स्वीकार करें। उस म यह शका निहित है कि एसा नही भी हो सकता है। तब हम क्या करें ? इस का कोई सामान्य उत्तर तो फिर मैं नही द सकता। यह उत्तर जरूर बनता है कि तब फिर उस पर विचार करें कि किस दृष्टि मे हम उस को महत्त्व दें और कहाँ तक उस को मर्यादित भी करें। कुछ रचनाओ क बारे म यह कह सकते हैं कि यह सुन्दर तो नहीं है लेकिन यह जो बात कह रही है वह ठीक बात कह रही है हमार काम की है। क्या यह कहना उस को रचना

के या कला के क्षेत्र से बाहर कर देना होगा ? मुझे लगता है कि हाँ करना होगा। लेकिन इस को ले कर कोई बहुत दावा नहीं करना चाहता हूँ। दूसरी तरफ क्या किसी रचना के बारे में यह कहा जा सकेगा कि 'सुन्दर है और हमारे संवेदन को छूती है लेकिन शायद कल्याणकारी नहीं है' ? निश्चय ही ऐसी रचनाएँ होती हैं। बल्कि आज-कल अधिकतर जो रचनाएँ सामने आती हैं उन के बारे में यही कहा जा सकता है कि संवेदन को छूती हैं प्रभावित भी करती हैं, लेकिन शायद शिव नहीं हैं। तो उन को क्या कहा जाये ? उन के बारे में भी अन्तिम रूप से यह निर्णय दे देना कि ये इस लिए कला नहीं हैं, इस में मुझे थोड़ा संकोच होगा।

> इन दोनों में से जब आप को चुनाव करना होता है, आप की प्राथमिकता का सवाल होता है, तो मुझे लगता है कि आप उस रचना को अधिक महत्त्व देते हैं जो कि कला है चाहे उस में उस के विचार आप की दृष्टि से मान्य न हों। दूसरी ओर ऐसी रचना के विचार जो आप को मान्य हों और कल्याणकारी लगते हों लेकिन कला की दृष्टि से जो सुन्दर न हो उसे आप कम महत्त्व देते हैं। या नहीं देते हैं ?

शायद यह बात ठीक है। एक तो मूल्य दृष्टि समय सापेक्ष यानी समाज-सापेक्ष है। समाज सापेक्ष है, इस का मतलब यह तो है ही कि समय समय पर बदलती है। इस का यह भी मतलब है कि उस को अस्वीकार कर देना हमेशा समाज के बस की बात है। लेकिन इस से अलग अगर कोई सौन्दर्य-बोध है तो वह समाज सापेक्ष नहीं है वह व्यक्ति सापेक्ष है। इस लिए उस को महत्त्व देना रचना का अंग हो जाता है। अगर कोई चीज़ सामाजिक मूल्यों से अलग सुन्दर या असुन्दर हो सकती है तो उस का सौन्दर्य जो देखता है उस का वह देखना अद्वितीय देखना है। फिर उस के बाद अगर मूल्यों की दृष्टि से वह घटिया है तो समाज उस को अस्वीकार कर सकता है। लेकिन अगर वह देखने से इनकार कर देता है तब वह समाज की एक क्षति है जिस की पूर्ति समाज नहीं कर सकता।

> इसी के साथ एक और सवाल जो मुझे लगता है जुड़ा हुआ है वह परम्परा का सवाल है। क्यों कि जब आप समाज की सौन्दर्य दृष्टि की बात करते हैं और उस की सामाजिक संवेदना की बात करते हैं तो वह समाज की एक परम्परा का सवाल है कोई भी समाज एक परम्परा में जीवित रहता है और उस

की मूल्य-दृष्टि और सौन्दर्य दृष्टि दोनों के निर्माण में उस परम्परा का बड़ा योगदान रहता है। और आप मानते हैं कि एक कवि भी परम्परा से मुक्त नहीं हो सकता, वह लगातार उसी में रहता है। उसी का नया सृजन करता है लेकिन उसी में रहता है। इस बात को दूसरी तरह से भी आपने कहा है कि कविता कविता में से निकलती है और जन जन में से निकलती है। पर दूसरी ओर आपने कुछ जगहों पर यह भी कहा है कि स्थितियों से, सामाजिक स्थितियों में, सामाजिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता है वह कविता में परिवर्तन लाता है। शमशेर बहादुर सिंह जी—यह प्रश्न मेरे मन में रहा है कि किस प्रकार का—मुक्तिबोध ने यह बात कही है कि इसी परिवर्तन के कारण कवि नया दृष्टिकोण खोजता है आवश्यक भी। तो क्या इन दोनों में एक कोई विरोध नहीं देखते या इन दोनों को आप एक साथ

का अनिवार्य अंग मानता हूँ। अपने को यह देना ही काफी नहीं है। यह विश्वास उस के साथ बनना चाहिए कि अगर अपने को कहा तो यत्न का मतलब ही यह है कि दूसरा तक पहुँचने योग्य उसे बनाया। दूसरे पक्ष का लगातार विचार भी कवि के कर्म के साथ मैं जोड़ देता हूँ। तार सप्तक में इतना आग्रह नहीं है। लेकिन महत्त्व इस को देता हूँ।

यह जो सम्प्रेषण की परिस्थितियों के बदलाव से कविता में बदलाव आता है उस के बारे में आपने कई दफा काफी कुछ कहा है। खास तौर से वाचिक परम्परा से पठ्य परम्परा तक आने में कविता का जो परिवर्तन है उस के बारे में जब आपने कहा कि सम्प्रेषण की परिस्थितियों में और सम्प्रेषण के साधनों में जो परिवर्तन हुआ उस की वजह से कविता में एक संरचनागत परिवर्तन सम्भव हुआ और वह बड़ा बुनियादी परिवर्तन था। अब इस को शरारत भरा सवाल न मानें, लेकिन मुझे कई दफा यह लगता है कि यह ठीक उसी तरह की बात है जो सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में मार्क्स ने कही थी, कि 'मीन्स एण्ड टूल्स आफ प्रोडक्शन' में परिवर्तन होता है तो उस से समाज का सारा ढाँचा बदलता है और उस समाज की सारी संरचना में एक तरह का परिवर्तन आता है। तो इसी तरह आप जब 'मीन्स एण्ड टूल्स आफ कम्युनिकेशन' में परिवर्तन की बात करते हैं और उस से पूरी कविता में परिवर्तन की बात करते हैं तो क्या यह नहीं लगता कि काव्य-चेतना को एक बाहरी—आन्तरिक दबाव के बजाय एक बाहरी प्रभाव के द्वारा परिवर्तित आप मान रहे हैं?

नहीं। यह तुलना, ऐसा तो नहीं है कि नहीं हो सकती। इस में तर्क के ढाँचे में एक समानता है। लेकिन मैंने वाचिक परम्परा की जो बात कही उस से जो परिणाम मैंने निकाले उन में एक यह है कि जब हम वाचिक सम्प्रेषण से इस छपी और लिखी कविता की ओर आते हैं तब हमारी रूप की परिभाषा बदल जाती है और संरचना का महत्त्व हो जाता है। तो औजार के रूपान्तर से समाज में जो परिवर्तन आते हैं उन से आप को तुलना करनी हो तो यह कहना होगा कि जैसे यहाँ पर रूपाकार बदला है वहाँ पर जो चीज बनायी गयी—अगर आप 'बनाने' में रचना और सिर्फ कारीगरी का भेद छोड़ भी दें तो—जो चीज बनायी गयी उस का सामाजिक महत्त्व कुछ दूसरा हो जायेगा। और

की मूल्य दृष्टि और सौंदर्य दृष्टि दोनों के रूपायन मे उस परम्परा का बड़ा योगदान रहता है। और आप मानते है कि एक कवि भी परम्परा से मुक्त नहीं हो सकता, वह लगातार उसी मे रहता है। उसी का नया सजन करता है लेकिन उसी मे रहता है। इस बात को दूसरी तरह से भी आपने कहा है कि कविता कविता म से निकलती है और रूप रूप में से निकलता है। पर दूसरी ओर आपने कुछ जगहों पर यह भी कहा है कि स्थितियो मे, सामाजिक स्थितियों मे, सामाजिक सन्दर्भों मे जो परिवतन होता है वह कविता मे परिवतन करता है। शायद 'तार सप्तक' की—या पूरा नहीं याद आ रहा ह कि किस सप्तक की—भूमिका मे यह बात उठी है कि इसी परिवतन के कारण कवि नयी प्रणालियाँ खोजता है सम्प्रेषण की। तो क्या इन दोनो मे आप कोई विरोध नहीं देखते या इन दोनों को आप एक साथ सच मानते ह ?

इन म विरोध कहां है !

इस लिए कि फिर कविता क्यों बदलती है ? कविता मे परिवतन कविता के अपने दबाव की वजह से होता है या सामाजिक परिवतन की वजह से होता है ?

देखिए एक तो कविता कविता म से निकलती है और जब निकलती है तो उस परम्परा म जुड जाती है जिस म स और कविताएँ निकलेंगी—यानी वे थोडी सी बदल गयी हैं। परम्परा लगातार बदलती जाती है इस लिए कि वह किसी चीज का मिटा कर उस का स्थान नहीं लेती बल्कि उस म जुड कर उस का रूपान्तर कर देता है। और स्मृति म तो वह सारी चीज बनी रहती है। लेकिन सिर्फ परम्परा बदल रही है या कविता म से कविता निकलने के कारण वही बदल रही है ऐसा तो नही है। ग्रहीता का संवेदन भी तो लगातार बदल रहा है कविता ग्रहण करने के नाते बदल रहा है और बाहर के कारणो स भी बदल रहा है। इस का मतलब यह है कि सम्प्रेषण की शैलियाँ और उस की जरूरतें भी बदलती जाती है। तो कविता म से कविता निकलने के कारण जिस तरह के परिवतन अपेक्षित होते हैं उस के अलावा और भी परिवतन अपेक्षित होते हैं सम्प्रेषण की स्थितियाँ बदल जाने के कारण। तार सप्तक म शायद मैंने दूसरे तक पहुँचने की बात पर इतना बल नहीं दिया था, बाद म अधिक जोर उस पक्ष पर दिया है। दूसरे तक पहुँचने की इच्छा और उस के सामर्थ्य की पहचान को मैं रचना-कम

का अनिवार्य अंग मानता हूँ। अपने को कह देना ही काफी नहीं है। यह विश्वास उस के साथ बनना चाहिए कि अगर अपने को कहा तो कहने का मतलब ही यह है कि दूसरों तक पहुँचने योग्य उसे बनाया। दूसरे पक्ष का लगातार विचार भी कवि के कर्म के साथ मैं जोड़ देता हूँ। तार सप्तक में इतना आग्रह नहीं है। लेकिन महत्त्व इस को देता हूँ।

यह जो सम्प्रेषण की परिस्थितियों के बदलाव से कविता में बदलाव आता है उस के बारे में आपने कई दफा काफी कुछ कहा है। खास तौर से वाचिक परम्परा से पठ्य परम्परा तक आने में कविता का जो परिवर्तन है उस के बारे में जब आपने कहा कि सम्प्रेषण की परिस्थितियों में और सम्प्रेषण के साधनों में जो परिवर्तन हुआ उस की वजह से कविता में एक संरचनागत परिवर्तन सम्भव हुआ और यह बड़ा बुनियादी परिवर्तन था। अब इस को शरारत भरा सवाल न मानें, लेकिन मुझे कई दफा यह लगता है कि यह ठीक उसी तरह की बात है जो सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में मार्क्स ने कही थी, कि 'मीन्स एण्ड टूल्स आफ प्रोडक्शन' में परिवर्तन होता है तो उस से समाज का सारा ढाँचा बदलता है और उस समाज की सारी संरचना में एक तरह का परिवर्तन आता है। तो इसी तरह आप जब 'मीन्स एण्ड टूल्स आफ कम्युनिकेशन' में परिवर्तन की बात करते हैं और उस से पूरी कविता में परिवर्तन की बात करते हैं तो क्या यह नहीं लगता कि काव्य-चेतना को एक बाहरी—आन्तरिक दबाव के बजाय एक बाहरी प्रभाव के द्वारा परिवर्तित आप मान रहे हैं?

नहीं। यह तुलना, ऐसा तो नहीं है कि नहीं हो सकती। इस में तर्क के ढाँचे में एक समानता है। लेकिन मैंने वाचिक परम्परा की जो बात कही, उस से जो परिणाम मैंने निकाले, उन में एक यह है कि जब हम वाचिक सम्प्रेषण से इस छपी और लिखी कविता की ओर आते हैं तब हमारी रूप की परिभाषा बदल जाती है और संरचना का महत्त्व हो जाता है। तो औजार के रूपान्तर से समाज में जो परिवर्तन आते हैं उन से आप को तुलना करनी हो तो यह कहना होगा कि जैसे यहाँ पर रूपाकार बदला है वहाँ पर जो चीज बनायी गयी—अगर आप 'बनाने' में रचना और सिर्फ कारीगरी का भेद छोड़ भी दें तो—जो चीज बनायी गयी उस का सामाजिक महत्त्व कुछ दूसरा हो जायगा। और

उस को समाज तक पहुँचाने की प्रक्रिया भी बदल जायेगी। पर यह ठीक है कि यन्त्र के द्वारा या कि बड़े पैमाने के यन्त्र से चीजें बनाये जाने से पहले जैसा होता था उस में कारीगरी का, (जब तक वह दस्तकारी के स्तर पर थी) एक कलात्मक मूल्य था जो कि बाद में नहीं रहा। बाद में वह चीज बिक्री के लिए हो गयी, जिंस हो गयी, उस के पहले उस का एक कलात्मक महत्त्व बना रहता था। तो तुलना का आधार यह होगा कि परिवर्तन तो हुआ, जो चीज श्रम के द्वारा बनायी जाती थी उस का सामाजिक मूल्य उस के उपयोग से जुड़ गया। इस आधार पर तुलना आप कर सकते हैं और आज कविता का क्या उपयोग होता है यह भी आप देख सकते हैं। लेकिन दूसरे स्तर पर वह बात लागू नहीं होगी।

नहीं, पर अगर कविता में उस की वजह से कोई परिवर्तन सम्भव होता है तो क्या इस से यह नहीं सिद्ध होता कि चेतना पर औज़ारों का प्रभाव पड़ता है?

चेतना पर औजारों का प्रभाव भी पड़ता है इस लिए कि चेतना का एक अंग यह पहचान भी है कि इन औजारों से मैं क्या कर सकता हूँ? या कि जो मैं इन से कर सकता हूँ उस की क्या सीमाएँ हैं जब तक मैं अपने को इन औजारों तक सीमित रखता हूँ।

लेकिन शायद उस की दिशा को ये औज़ार नियन्त्रित नहीं करते—

नहीं करते। चेतना तो इस से बड़ी चीज है।

और यह औज़ारों का अपने हित में इस्तेमाल करती है बजाय इस के कि औज़ार उस का इस्तेमाल करें। और यह किसी एक निश्चित दिशा की ओर हमेशा नहीं ले जाती। लेकिन एक चीज जो मुझे दिखाई देता है वाचिक परम्परा की कविता में और अब जो कविता लिखी जा रही है उस में जैसे एक केन्द्रीय मुहावरा बन गया है, केन्द्रीय संवेदना तो युगों की रहती है और वह साहित्य में व्यक्त होती है, लेकिन एक केन्द्रीय मुहावरा सा बन गया है और इस का एक नतीजा यह हुआ है कि जो अलग-अलग इलाकों में रहने वाले हैं, जो अलग-अलग सामाजिक परिस्थितियों में रहने वाले कवि हैं, अलग-अलग परिवेश में—(प्राकृतिक परिवेश भी उस में शामिल करता हूँ)—रहने वाले कवि हैं, उन की कविताओं में जो विशिष्टता अलग अलग परिवेश में रहने की वजह से दिखाई देनी चाहिए थी वह

कम दिखाई देती है और एक सार्वभौम मुहावरा सा इन दिनों कविता में दीखने लगा है। अगर कहीं भेद होता है तो विचारों की वजह से कुछ भेद नजर आता है। तो क्या यह स्वस्थ चीज है कविता के विकास के लिए?

देखिए तर्क का जो रूप आप अभी बहस में लाये—उसी का इस्तेमाल यहां कर के कहूं कि अगर आप यन्त्रोद्योग वाले तर्क कविता पर लागू करेंगे तो अनिवार्यतया यह परिणाम होगा कि—

उसी की ओर मैं संकेत करना चाह रहा था।

एक तो आप यन्त्र विधियां बाहर से लायेंगे और उन्हें कविता पर लागू करेंगे, जैसे टेक्नोलाजी इम्पोर्ट की जाती है, तो उस से एक एकरूपता तो आयेगी ही। जहां कविता का ऐसा इस्तेमाल हो रहा है—टेक्नोलॉजी के स्तर पर आप मुहावरा भी ला रहे हैं, वहां उस में एकरूपता भी आयेगी बल्कि एक केन्द्रीय समानता तो अपेक्षित ही होगी। जिस तरह का वैविध्य और विचित्रता दस्तकारी के स्तर पर सम्भव होती है और काम में भी बनी रहती है, वह इस स्थिति में नहीं रह सकती। तो यहां पर फिर आप को चुनना होगा कि आप क्या चाहते हैं और उस के लिए आप कितना दाम देने को तैयार हैं। मैं उस पक्ष का हूँ जो कि दस्तकारी का फिर भी महत्त्व देगा मैं कहूँगा कि टेक्नोलाजी उतनी ही लानी चाहिए जितनी हमारे काबू में रहे—यह हम को स्वीकार नहीं है कि वह हम पर हावी हो जाये। और इसी तर्क को आप चाहें तो कविता के क्षेत्र में भी ला सकते हैं। क्यों कि बड़े बड़े प्रेस हैं जो कि बहुत बड़ी ग्राहक-संख्या वाली पत्र पत्रिकाएँ निकालने लगे हैं और उन को एक जिंस के रूप में कविता की भी जरूरत है। उन के लिए तत्कालीन लोकप्रिय मुहावरे में आप कविता, कहानी, उपन्यास सब कुछ रच कर देते चलिए! यह तो उस व्यवसाय का तर्क है। लेकिन अगर हम इस स्थिति की बात कर रहे हैं तो फिर हमें 'रचना' की बात नहीं करनी चाहिए। और अगर हम रचना की बात कर रहे हैं तो उस सम्भावना की बात करनी चाहिए जो कि इस परिस्थिति का या परिस्थिति के दबाव का मुक़ाबला भी कर सकती है और मानवता को इस टेक्नोलॉजी की गुलामी से बचाने की कोई आशा दे सकती है।

तो क्या पिछले कुछ अरसे से जो आप फिर वाचिक परम्परा का कुछ आग्रह करने लगे हैं और उस के तत्त्व—यह नहीं कि ठीक उसी तरह से वापस उस को पुनर्जीवित किया जाये लेकिन उस की कुछ विशेषताओं को, उस के बुनियादी तत्त्वों को—आज

उस को समाज तक पहुँचाने की प्र
ठीक है कि यन्त्र के द्वारा या कि बड़े
से पहले जैसा होता था उस में शारीर
के स्तर पर थी) एक रचनात्मक मूल्य
बाद में वह चीज किसी के लिए हो व
उस का एक कलात्मक महत्त्व बना रह
यह होगा कि परिवर्तन तो हुआ, जो चीज
थी उस का सामाजिक मूल्य उस के उपयो
पर तुलना आप कर सकते हैं और आज क
यह भी आप देख सकते हैं। लेकिन दूसरे र
होगी।

नहीं, पर अगर कविता में उस की वजह
होता है तो क्या इस से यह नहीं सिद्ध होता
का प्रभाव पड़ता है ?

चेतना पर औजारों का प्रभाव भी पड़ता है इस
अगर यह पहचान भी है कि इन औजारों से मैं क्या कर
जो मैं इन से कर सकता हूँ उस की क्या सीमाएँ हैं ज
इन औजारों तक सीमित रखता हूँ।

लेकिन शायद उस की दिशा को वे औजार
करते—

नहीं करते। चेतना तो इस से बड़ी चीज है।

और वह औजारों का अपने हित में इस्तेमाल करत
इस के कि औजार उस का इस्तेमाल करें। और
एक निश्चित दिशा की ओर हमेशा नहीं ले जाती। ले
चक जो मुझे दिखाई देता है वाचिक परम्परा की क
और अब जो कविता लिखी जा रही है उस में जैसे एक
मुहावरा बन गया है, केन्द्रीय संवेदना तो युगों की रह
और वह साहित्य में व्यक्त होती है, लेकिन एक के
मुहावरा-सा बन गया है और इस का एक नतीजा यह हुआ
कि जो अलग-अलग इलाकों में रहने वाले हैं, जो अलग-अल
सामाजिक परिस्थितियों में रहने वाले कवि हैं, अलग-अलग
परिवेश में—(प्राकृतिक परिवेश भी उस में शामिल करता हूँ)—
रहने वाले कवि हैं, उन की कविताओं में जो विशिष्टता अलग
अलग परिवेश में रहने की वजह से दिखाई देनी चाहिए थी वह

कम दिखाई देती है और एक सार्वभौम मुहावरा-सा इन की कविता में दीखने लगा है। अगर कहीं भेद होता है तो विचारों की वजह से कुछ भेद नजर आता है। तो क्या यह स्वस्थ चीज है कविता के विकास के लिए ?

देखिए तक का जो रूप आप अभी बहस में लाये उसी का इस्तेमाल यहां कर के कहूँ कि अगर आप यन्त्रोद्योग वाले तर्क कविता पर लागू करेंगे तो अनिवार्यतया यह परिणाम होगा कि—

उसी की ओर मैं संकेत करना चाह रहा था।

एक तो आप यन्त्र विधियां बाहर से लायेंगे और उन्हें कविता पर लागू करेंगे, जैसे टेक्नोलाजी इम्पोर्ट की जाती है तो उस से एक एकरूपता तो आयगी ही। जहां कविता का ऐसा इस्तेमाल हो रहा है—टेक्नोलाजी के स्तर पर आप मुहावरा भी ला रहे हैं, वहां उस में एकरूपता भी आयगी बल्कि एक केन्द्रीय समानता तो अपेक्षित ही होगी। जिस तरह का वविध्य और विचित्रता दस्तकारी के स्तर पर सम्भव होती है और काम में भी बनी रहती है, वह इस स्थिति में नहीं रह सकती। तो यहां पर फिर आप को चुनना होगा कि आप क्या चाहते हैं और उस के लिए आप कितना दाम देने को तैयार हैं। मैं उस पक्ष का हूँ जो कि दस्तकारी को फिर भी महत्त्व देगा मैं कहूँगा कि टेक्नालाजी उतनी ही लानी चाहिए जितनी हमारे काबू में रहे—यह हम को स्वीकार नहीं है कि वह हम पर हावी हो जाये। और इसी तर्क को आप चाहें तो कविता के क्षेत्र में भी ला सकते हैं। क्या कि बड़े बड़े प्रेस हैं जो कि बहुत बड़ी ग्राहक-संख्या वाली पत्र-पत्रिकाएँ निकालने लगे हैं और उन को एक किस्म के रूप में कविता की भी जरूरत है। उन के लिए तत्कालीन लोकप्रिय मुहावरे में आप कविता, कहानी, उपन्यास सब कुछ रच कर देते चलिए। यह तो उस व्यवसाय का तर्क है। लेकिन अगर हम इस स्थिति की बात कर रहे हैं तो फिर हमें 'रचना' की बात नहीं करनी चाहिए। और अगर हम रचना की बात कर रहे हैं तो उस सम्भावना की बात करनी चाहिए जो कि इस परिस्थिति का या परिस्थिति के दबाव का मुकाबला भी कर सकती है और मानवता को इस टेक्नोलाजी की गुलामी से बचाने की कोई आशा दे सकती है।

तो क्या पिछले कुछ अरसे से जो आप फिर वाचिक परम्परा का कुछ आग्रह करने लगे हैं और उस के तत्त्व—यह नहीं कि ठीक उसी तरह से वापस उस को पुनर्जीवित किया जाये लेकिन उस की कुछ विशेषताओं को, उस के बुनियादी तत्त्वों को—आज

उस को समाज तक पहुँचाने की प्रक्रिया भी बदल जायेगी। और यह ठीक है कि यन्त्र के द्वारा या कि बड़े पैमाने के यन्त्र से चीजें बनाये जाने से पहले जैसा होता था उस में कारीगरी का, (जब तक वह दस्तकारी के स्तर पर थी) एक कलात्मक मूल्य था जो कि बाद में नहीं रहा। बाद में वह चीज बिक्री के लिए हो गयी, जिस हो गयी उस के पहले उस का एक कलात्मक महत्त्व बना रहता था। तो तुलना का आधार यह होगा कि परिवर्तन तो हुआ, जो चीज श्रम के द्वारा बनायी जाती थी उस का सामाजिक मूल्य उस के उपयोग से जुड़ गया। इस आधार पर तुलना आप कर सकते हैं और आज कविता का क्या उपयोग होता है यह भी आप देख सकते हैं। लेकिन दूसरे स्तर पर वह बात लागू नहीं होगी।

नहीं, पर अगर कविता में उस की वजह से कोई परिवर्तन सम्भव होता है तो क्या इस से यह नहीं सिद्ध होता कि चेतना पर औज़ारों का प्रभाव पड़ता है?

चेतना पर औज़ारों का प्रभाव भी पड़ता है इस लिए कि चेतना का एक अंग यह पहचान भी है कि इन औज़ारों से मैं क्या कर सकता हूँ? या कि जो मैं इन से कर सकता हूँ उस की क्या सीमाएँ हैं जब तक मैं अपने को इन औज़ारों तक सीमित रखता हूँ।

लेकिन शायद उस की दिशा को वे औज़ार नियन्त्रित नहीं करते—

नहीं करते। चेतना तो इस से बड़ी चीज है।

और वह औज़ारों का अपने हित में इस्तेमाल करती है बजाय इस के कि औज़ार उस का इस्तेमाल करें। और यह किसी एक निश्चित दिशा की ओर हमेशा नहीं ले जाती। लेकिन एक फर्क जो मुझे दिखाई देता है वाचिक परम्परा की कविता में और अब जो कविता लिखी जा रही है उस में जैसे एक केन्द्रीय मुहावरा बन गया है, केन्द्रीय संवेदना तो युगों की रहती है और वह साहित्य में व्यक्त होती है, लेकिन एक केन्द्रीय मुहावरा-सा बन गया है और इस का एक नतीजा यह हुआ है कि जो अलग अलग इलाकों में रहने वाले हैं, जो अलग-अलग सामाजिक परिस्थितियों में रहने वाले कवि हैं, अलग-अलग परिवेश में—(प्राकृतिक परिवेश भी उस में शामिल करता हूँ)—रहने वाले कवि हैं, उन की कविताओं में जो विशिष्टता अलग अलग परिवेश में रहने की वजह से दिखाई देनी चाहिए थी वह

कम दिखाई देती है और एक सार्वभौम मुहावरा सा हिन्दी की कविता मे दीखने लगा है। अगर कहीं भेद होता है तो विचारों की वजह से कुछ भेद नजर आता है। तो क्या यह स्वस्थ चीज है कविता के विकास के लिए ?

देखिए, तर्क का जो रूप आप अभी बहस म लाये उसी का इस्तेमाल यहा कर के कहूँ कि अगर आप यन्त्रोद्योग वाले तर्क कविता पर लागू करेंगे तो अनिवार्यतया यह परिणाम होगा कि—

उसी की ओर मैं संकेत करना चाह रहा था।

एक तो आप यन्त्र विधिया बाहर से लायेंगे और उन्हें कविता पर लागू करेंगे, जैसे टेक्नोलाजी इम्पोर्ट की जाती है, तो उस से एक एकरूपता तो आयेगी ही। जहा कविता का ऐसा इस्तेमाल हो रहा है—टक्नालॉजी के स्तर पर आप मुहावरा भी ला रहे है, वहा उस म एकरूपता भी आयेगी बल्कि एक केन्द्रीय समानता तो अपेक्षित ही होगी। जिस तरह का वविध्य और विचित्रता दस्तकारी के स्तर पर सम्भव होती है और काम म भी बनी रहती है वह इस स्थिति म नही रह सकती। तो यहाँ पर फिर आप को चुनना होगा कि आप क्या चाहते हैं और उस के लिए आप कितना दाम देने को तैयार है। मैं उस पक्ष का हूँ जो कि दस्तकारी को फिर भी महत्त्व देगा मैं कहूँगा कि टेक्नालॉजी उतनी ही लानी चाहिए जितनी हमारे काबू म रहे—यह हम को स्वीकार नही है कि वह हम पर हावी हो जाये। और इसी तर्क को आप चाह तो कविता के क्षेत्र मे भी ला सकते हैं। क्या कि बडे बडे प्रेस हैं जो कि बहुत बडी ग्राहक-सख्या वाली पत्र पत्रिकाएँ निकालने लगे है और उन का एक जिंस के रूप मे कविता की भी जरूरत है। उन के लिए तत्कालीन लोकप्रिय मुहावरे मे आप कविता, कहानी, उपन्यास सब कुछ रच कर देते चलिए। यह तो उस व्यवसाय का तर्क है। लेकिन अगर हम इस स्थिति की बात कर रहे हैं तो फिर हमे 'रचना' की बात नही करनी चाहिए। और अगर हम रचना की बात कर रहे हैं तो उस सम्भावना की बात करनी चाहिए जो कि इस परिस्थिति का या परिस्थिति के दबाव का मुकाबला भी कर सकती है और मानवता को इस टैक्नोलॉजी की गुलामी से बचाने की कोई आशा दे सकती है।

तो क्या पिछले कुछ अरसे से जो आप फिर वाचिक परम्परा का कुछ आग्रह करने लगे है और उस के तत्त्व—यह नहीं कि ठीक उसी तरह से वापस उस को पुनर्जीवित किया जाये लेकिन उस की कुछ विशेषताओ को, उस के बुनियादी तत्त्वो को—आज

को कविता के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं—क्या उस की वजह यही है ?

यह विचार भी उस के साथ जुड़ जाता है, लेकिन वाचिक परम्परा की बात जो करता हूँ तो एक तो उस का सन्दर्भ यह है कि हमारा देश अभी तक दो तिहाई निरक्षर है। दो तिहाई तो बिल्कुल निरक्षर है, इस का यह मतलब भी नहीं है कि एक तिहाई पुस्तकें पढ़ता है या पढ़ भी सकता है। साक्षर है बस इतना ही है। जहाँ पढ़ने वालों की संख्या इतनी कम है लेकिन साहित्य से या रचना से या काव्य से जुड़ने वालों की संख्या उन लोगों में भी काफी है जो कि निरक्षर हैं, वहाँ ध्यान रहना चाहिए कि हमारे पूरे समाज का एक संस्कार अभी बचा हुआ है जिस का उपयोग हो सकता है। इस सांस्कृतिक संस्कार के आधार पर रचना को जन साधारण तक यानी कि निरक्षर समाज तक भी पहुँचाने के लिए वाचिक परम्परा का महत्त्व देना चाहिए। सम्प्रेषण की विधियों के बारे में वहाँ से बहुत कुछ सीखा जा सकता है—या कि सीखा हुआ, जाना हुआ तो वह है, उस को भुलाये जाने से बचाया जा सकता है। दूसरा कारण उस पर बल देने का यह हुआ कि अब जो नये संचार माध्यम आये हैं जिन में श्रव्य की सम्भावनाएँ बहुत हैं ये वाचिक परम्परा का दूसरा और बेलगाम परिस्थिति में कहना चाहिए कि अँधेरा पक्ष है। क्यों कि वाचिक परम्परा में श्रुति का संस्कार रहा और सुन कर ही संस्कार ग्रहण किये जाते रहे इस लिए अगर आज हम अपने कानों को यन्त्रों का—और वह भी सरकारी या कि बड़े संगठनों के यन्त्रों का—गुलाम हो जाने देते हैं तो हम उस पूरी वाचिक परम्परा की जो रचनात्मक सम्भावनाएँ थीं उन की रचनात्मकता मिटा कर उन को भी गुलामी में परिवर्तित कर देते हैं। इस से बचने के लिए भी इस चीज पर बल देना चाहिए कि वाचिक परम्परा में रचनात्मक संस्कार बनाने की बहुत सी सम्भावना है और उस सामर्थ्य की रक्षा इस परिस्थिति से करनी चाहिए।

यह जो अभी आप ने नये संचार-साधनों की बात कही, इस से एक और बात मेरे मन में उठती है (जिस की थोड़ी चर्चा जम्मू के शिविर में भी हुई)। यह जो नयी तरह की सम्प्रेषण परिस्थिति दूरदर्शन के जाल ने हमारे देश में पैदा की है, तत्काल ऐसा नहीं लगता कि इसे रोका जा सकेगा, लगता है कि लोगों का यह आकर्षण जो है वह इतना अधिक है, जन-साधारण का भी, कि लेखक अगर उस का सृजनात्मक इस्तेमाल नहीं करता

है या उस दिशा मे नहीं सोचता है और इस नयी सम्प्रेषण-परिस्थिति को सही पहचान अगर उस के साहित्य मे विकसित नहीं होती और उस के अनुरूप वह नयी प्रणालिया नहीं खोजता है तो शायद उस की कविता कुछ पीछे रह जाये। एक सिद्धान्त के रूप मे अगर हम यह मान लें कि सम्प्रेषण-परिस्थितियो मे और साधनो मे बदलाव से कविता मे भी कुछ बदलाव आता है, तो अब किस तरह का बदलाव आप देखते है ? क्या खोज उन नयी सम्प्रेषण परिस्थितियो मे आनी चाहिए ?

अब जो मैं वतमान परिस्थिति मे देखता हूँ— यह तो है कि इन चीजो का एक बडा प्रबल आकषण है, एक सम्मोहन सा है टी० वी० का। केवल इस लिए नही कि एक स्टेटस सिम्बल बन गया है टी० वी० सैट, इस लिए भी कि माध्यम का सामथ्य है सीधे सीधे लोगो तक पहुँचने का घर म, झोपडी के भीतर भी पहुँचने का। यह आपने देखा होगा कि पिछले वष लगातार कितनी तेजी से दूरदशन का जाल, नेटवक के अथ म भी और—

जाल ही के अथ मे कहना चाहिए !

जाल के अथ मे भी कितनी तेजी से फैलाया गया और इस बात की कितनी प्रशसा की गयी, इस बात का श्रेय लिया गया, कि सारे देश तक आवाज पहुँचाने की व्यवस्था हमने कर दी है। लेकिन इस बात को तो उतना स्पष्ट रूप स सामने नही लाया गया कि यह सारी की सारी एकतरफा व्यापार की व्यवस्था है। एक केन्द्र स निकलने वाली आवाज देश के कोने-कोने तक पहुँच जाये, इस की व्यवस्था तो है, लेकिन देश के कोने-कोने की आवाज भी वापस केन्द्र तक पहुँचे इस की कोई चिन्ता नही थी। हालाकि इस की सम्भावना भी तो उस म दूसरे पक्ष स निकलती है। जो जाल फलाया गया है वह इस लिए है कि एक दिशा म प्रभावो का प्रवाह तजी से और दूर-दूर तक हो सके। दूसरी दिशा म भी वसा होना चाहिए, इस की कोई खास चिन्ता नही है। लेकिन इस के बावजूद इस का बडा प्रबल आकषण है। तो यह स्थिति तो आयगी। इस पहचान म लोगो को समय लगेगा कि जितना इस मे सामथ्य है उस स जितनी सम्भावनाएँ खुलती हैं उतने ही उस के खतरे भी हो गये है। इस समय तो प्रयत्न यही है—सरकार का भी और समृद्ध सगठनो का भी—कि जल्दी से जल्दी इस शक्ति का उपयोग कर के एसी स्थिति ले आयी जाय कि सुनने वाला हमेशा के लिए हमारा

गुलाम हो जाये। अब कवि के लिए या साहित्यकार के लिए प्रश्न यह बनता है कि या तो हम इस का विरोध करते हुए परिस्थिति से और इन नयी सम्भावनाओं से कट जायें, एक तरफ डाल दिये जायें—यह सम्भावना है और ऐसा हुआ भी है—या हम भी साथ बहते चलें।

हाँ, पर खतरा आखिर एक सृजनात्मक चुनौती होता है। सच्चाई यह है कि कवि का या कि साहित्यकार का आज के इस समाज में वह स्थान नहीं है जो कि पहले कवि का होता था। न लोगों के बीच वह सम्मान है और न वह शक्ति उस के पास है। दूसरा सवाल यह बनता है कि क्या कवि यह यत्न कर सकता है कि इस चीज में शामिल हो कर उस को यथासम्भव इस परिस्थिति से उबार सके, बहाव में साथ बह कर उस मोड़ दे सके? मैं नहीं जानता इस का क्या जवाब है, कि वास्तव में वह ऐसा कर सकता है या नहीं। लेकिन अगर कोई ईमानदारी से इस का प्रयत्न करना चाहता है तो मैं उस प्रयत्न का श्रेय उस को देने के लिए तैयार हूँ। कर के देख लें कि क्या हो सकता है। और अगर वह यह नहीं करता पर उस से अलग हो कर चाहता है कि टी० वी० के बिना भी या कि जिस के पास टी० वी० नहीं है या जो नहीं देखते उन तक पहुँचे, तो उस के प्रयत्न को भी मैं अमान्य नहीं करता। मेरा ख्याल है दोनों तरह की कोशिशें होंगी। कम से कम मैं यह नहीं कह सकता कि इन में से एक गलत है और दूसरी सही है। दोनों होनी भी चाहिए। उन लोगों तक भी पहुँचना चाहिए जो कि यह नहीं मानते कि हम टी० वी० के बिना सभ्य समाज के अंग नहीं रहते और उन लोगों तक भी पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए जो टी० वी० को महत्त्व देते हैं—कि टी० वी० के माध्यम से भी कुछ अच्छे संस्कार लोगों तक पहुँचाये जा सकें—रचनात्मक या सांस्कृतिक जीवन के संस्कार। राजनीति की बात मैं नहीं कह रहा हूँ।

मैं जो बात इंगित करना चाह रहा हूँ वह यह भी है कि यह जो एक नयी सम्प्रेषण-परिस्थिति हमारे सामने पैदा हुई, इस के कारण से जो चुनौती कवि के सामने आती है जिस का मुकाबला उसे अपने माध्यम से ही करना है, उसी की मदद से करना है, तो उस से कविता में क्या कोई और रूपगत परिवर्तन की सम्भावना आप देखते हैं जैसी आपने वाचिक परम्परा से पठ्य परम्परा की कविता के सिलसिले में देखी? क्यों कि अगर एक समाज में लम्बे समय तक टी० वी० का प्रयोग होता है तो (चाहे कवि दूसरी तरह से पहुँचना चाहता रहे, मैं नहीं

कहता कि वह न पहुँचे) समाज का जो ग्रहण सस्कार है उस मे एक सरचनागत परिवतन भी लम्बे समय तक होता है। जसे कि अखबार पढने वाला आदमी धीरे धीरे सुनने की बजाय पढना पसन्द करता है। तो जैसे एक पठय परम्परा ने एक सरचनागत परिवतन कविता मे किया, क्या उसी तरह का कोई परिवतन अब आप सम्भव देखते ह ?

कुछ परिवतन तो होगा। कुछ शायद हो भी रहा है—बहुत स्पष्ट तो नही हुआ है। जो हो रहा है वह *शायद अच्छा नही है। यानी* रेडियो और टी० वी० पर, खास कर टी० वी० पर, जिस तरह के कवि सम्मेलन और मुशायरे होने लगे हैं

वह तो वाचिक परम्परा या पठय परम्परा की ही चीजें सामने आती ह वहा से—उस मे नया तो नहीं लगता है कुछ।

हाँ, लेकिन उस परम्परा की जो कमजोरिया थी उन का ज्यादा उपयोग होता है, क्या कि आग्रह तो लोकप्रियता की ओर है। क्यो कि इन की लोकप्रियता का उपयोग फिर दूसरे प्रयोजनो के लिए किया जाता है। गम कायक्रम का स्पासर अपनी चीज का विज्ञापन करने के लिए कवि सम्मेलन और मुशायरे का उपयोग करता है। इस लिए इस का बहुत महत्त्व है कि जो चीज वहाँ सुनायी जाये कवियो का जो रूप, जो छवि दीखे वह लोगो को आकर्षित कर। फिर उस के बाद तल साबुन बेचना हो, सिगरेट-तम्बाकू बेचना हो, फटफटिया बेचना हो, खान पीन की चीज बेचना हो, कुछ भी बेचना हो—उस का इस्तमाल फौरन करे। लेकिन यो जो प्रभाव पूरे समाज पर या सम्प्रेषण की पूरी परिपाटी पर पडता है उस का कुछ अच्छा उपयोग भी हो सकता है यदि वसा लक्ष्य हो। एक तो मेरा ख्याल है कि काव्य वाचन को फिर से नया महत्त्व दिया जा सकता है—*और शायद दिया भी जा रहा है। रगमच का उपयोग भी काव्य को* प्रस्तुत करने के लिए बढ़ेगा, और बढे तो अच्छा है।

और एक कुछ मिश्र माध्यम भी हो जैसे वाणी भी है जो कि कवि का पहला माध्यम था। उस के साथ कुछ उस का यान्त्रिक विस्तार भी हो और कुछ छवियाँ भी उस के साथ प्रसारित की जायें, या चल चित्र का भी इस्तेमाल हो या नाटकीय मचन इत्यादि, जिस को कविता की मिश्र प्रस्तुति कह सकते हैं। मेरा ख्याल है कि उधर कवियो का भी और दूसरो का भी ध्यान जायेगा। यह भी अच्छा ही है। इस के सहारे फिर उन अर्थों को भी समाज के सामने लाया जा सकेगा जो कि समाज के लिए महत्त्व रखते हैं उस के सवेदन को समृद्धतर बना सकते

हैं और उस छिछलेपन से बचा सकते हैं जो टी० वी० के लिए आवश्यक होता है।

अब मैं फिर वहीं परम्परा की बात की ओर लौटना चाहूँगा। जब हिन्दी का कवि परम्परा की बात करता है तो उस में कहीं भारतीयता के संस्कार की बात भी करता है। अब भारतीयता को आप किस तरह व्याख्यायित करते हैं? विशिष्ट दार्शनिक परम्परा के रूप में देखते हैं या कोई और संस्कारों की परम्परा के रूप में देखते हैं, संवेदनागत परम्परा के रूप में देखते हैं? कैसे इसे परिभाषित करेंगे?

दार्शनिक परम्परा भी उस का एक अंग होनी चाहिए। लेकिन एक समग्र अस्मिता का ही महत्त्व होना चाहिए। भारतीयता का मतलब है भारतीय अस्मिता की पहचान—व्यक्ति के सामने एक आत्म बिम्ब हो जो कि भारतीय हो। लेकिन यह भी है कि उस की सीढ़ी में एक स्थान पर मैं रख देना चाहूँगा क्या कि भारतीय हो जाने के नाते ऐसा नहीं है कि मनुष्य मनुष्य नहीं रहता। तो एक बात यह रहेगी कि एक मानव के नाते मैं क्या हूँ, कहाँ हूँ—मानवता की एक पहचान होनी चाहिए। फिर दूसरी तरफ मैं जिस प्रादेशिक समाज में जीता हूँ वह है—यहाँ पर ऐसे समाज हैं, जन-जातियाँ हैं, वन जातियाँ हैं, जिन का जीवन उस बिरादरी के बाहर बहुत कम जाता है। बाहर के प्रभाव उन में आते ज़रूर हैं—चीज़ें महँगी होती हैं या दुर्लभ हो जाती हैं और उस का असर उन पर पड़ता है, फिर शहरी लोगों द्वारा शोषण तो है ही। लेकिन उन का सामान्य सांस्कृतिक जीवन उसी एक बिरादरी की सीमा में रहता है।

भारतीयता की बात के साथ ही एक और सवाल जुड़ा हुआ है। ख़ास तौर से आपने एक-आध दफ़ा इस तरह के वक्तव्य भी दिये हैं जिन्हें देखते हुए मैं समझता हूँ कि पुनर्जन्म या कर्मवाद की बात के बिना भारतीय जीवन दृष्टि का विचार सम्भव नहीं होता। ख़ास तौर से काल की आप की जो कल्पना है, चक्राकार, वह भी कहीं-कहीं पुनर्जीवन या पुनर्जन्म की बात पर आधारित है या उस को पुष्ट करती है या दोनों ही एक दूसरे को पुष्ट करती हैं। लेकिन आप पुनर्जन्म को नहीं मानते बल्कि जहाँ तक मुझे स्मरण होता है एक-आध जगह पर आपने कहा भी है कि पुनर्जन्म मैं स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में भारतीय जीवन-दृष्टि से या भारतीय संस्कार से कैसे अपने

को जुड़ा हुआ अनुभव करते हैं? क्यों कि यह तो भारतीय संस्कार का एक हिस्सा है पुनर्जन्म?

भारतीयता की बात तो मैंने की है, लेकिन एक तो पुनर्जन्म की बात जरूरी तौर पर भारतीयता का अंग नहीं है। दूसरे मैंने ठीक यह नहीं कहा कि मैं इसे नहीं मानता। इतना ही कहा है कि पुनर्जन्म को मानना अनिवार्यतया उस काल की मेरी अवधारणा से जुड़ता नहीं है। उस के बिना भी काम चलता है। तो जितनी कम चीजें मान कर काम चल जाये उतना ही ठीक है।

लेकिन फिर भी पुनर्जन्म एक ऐसी धारणा है जिस से किसी तरह की टकराहट के बिना भारतीय मन कैसे रह सकता है?

बात इतनी ही है कि मैं पुनर्जन्म मानना जरूरी नहीं समझता, यही मैं कह सकता हूँ। इस का प्रमाण नहीं है कि पुनर्जन्म नहीं होता। उसे मानना अनावश्यक है, बस इतने तक ही मानता हूँ। या काल की जैसी अवधारणा है, चक्रगति की जो बात है, उस में मैं समझता हूँ कि पुनर्जन्म की बात को मन में पीछे कहीं रखते हुए यह कहें कि जीवन में अवस्थिति का निर्णय करने के लिए एक तो दिक् का विचार करना होता है कि कोई चीज 'कहाँ' है, दूसरे काल का विचार करना होता है कि कोई चीज 'कब' है। और तीसरे वह लीजिए कि अस्ति का, अस्मिता का विचार करना होता है—कि कौन है। तो पुनर्जन्म में यह जो मान लेना है कि दुबारा फिर वही संयोग होगा कि वही दिग्बिन्दु, वही काल बिन्दु और अस्मिता का भी वही पुंज सब इकट्ठे होंगे, यह मानना मुझे अनावश्यक जान पड़ता है। काल की चक्रगति है, लेकिन जिस को अस्मिता कहते हैं उसे—आत्मा का अमर मान भी लें तो—वही ज्यों का त्यों वही पुंज इकट्ठा होता है यह मानना अनावश्यक है। वह कहीं बना रहता है, या किसी विश्वात्मा में एक हो कर रहता है, कोई ऐसी बड़ी चेतना है जिस में वह भी चला जाता है और उसी से एक बिन्दु कभी अलग हो कर फिर रूप लेता है—इस रूप में, अगर आप इस का पुनर्जन्म कहें, यानी कहें कि कुछ है जो मिटता नहीं है और बार-बार प्रकट होता है तो इस का परिणाम यह नहीं निकलता कि वह ठीक वही है। लेकिन अगर आप पुनर्जन्म की परिभाषा ही ऐसी करें तब दूसरी बात हो जाती है। मैं तो सोचता हूँ जिस तरह हम एक निरवधि काल की कल्पना करते हैं, जैसे एक महासागर है उस में से एक बूंद आप ले लीजिए या उस में लहरें आती हैं—पुरानी कल्पना भी यह रही है कि एक उस का स्थिर रूप है और एक उस की

सतह पर लहरें आती रहती हैं—इसी तरह चेतना का भी एक महा सागर हो सकता है जिस का एक अशेष और अनन्त रूप है और जिस में जब तब लहरें उठती रहती हैं—ऐसा मान सकते हैं। मैं जब पुनर्जन्म की बात को अनावश्यक मानता हूँ तब इस रूप की बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि ठीक उसी इकाई के फिर किसी तरह प्रकट होने की और पिछले जन्म की स्मृति वगैरह की बात करता हूँ। यह सब मानना अनावश्यक है।

> स्मृति तो नहीं, लेकिन कर्मवाद का सिद्धान्त यह जरूर मानता है कि जिसे आप अस्मिता का पुंज कहें या आत्मा कहें वह जब तक विश्वात्मा में विलीन नहीं हो जाती—अगर वह हो जाती है तो उस के बाद अगर उस में से कुछ निकलता है तब तो वह दूसरा कुछ हो सकता है फिर भी तात्त्विक अन्तर उस में नहीं होता—तब तक वह वही है। दूसरे, यह कहना भी एक तरह से भाषा का प्रयोग ही है, इस के अलावा कुछ नहीं है। लेकिन उस में विलीन होने से पहले भी और देह के न रहने पर दुबारा वह देह धारण करती है तो वही पुंज अस्मिता का है। दिक् और काल तो बदलते हैं लेकिन अस्मिता का पुंज वही रहता है, उस की पहचान चाहे तात्त्विक स्तर पर न रहे पर उस की बाहरी पहचान जरूर बदलती है। यह जो धारणा है पुनर्जन्म की मैं उस के बारे में बात कर रहा था?

देखिए, कर्मवाद के साथ इस का जोड़ते हैं तो मेरा ख्याल है कि वहाँ पर एक दूसरी समस्या उस के साथ जुड़ी होती है—कि किसी ने जो अच्छे-बुरे कर्म किये उस का फल उसी को न मिल कर अगर किसी दूसरे को मिलता है तो यह कैसा न्याय हुआ? फल उसी को मिलना चाहिए। अगर वह एक जीवन जी के फिर वही वह नहीं रहा तो फल उस को कैसे मिलता है? और एक के कर्म के कारण दूसरे को लाभ या कष्ट हो तो फिर ऐसा लगता है कि इस विश्व में कहीं न्याय नहीं है। इस बारे में आसान जवाब तो यही है कि 'मैं नहीं जानता कि न्याय है'। लेकिन मानना चाहता हूँ कि कुल मिला कर न्याय भी हो जाना चाहिए या एक सन्तुलन बनना चाहिए और अगर सचमुच हम ऐसा मान लेते हैं कि ये अलग-अलग इकाइयाँ नहीं हैं तो यह मानने में भी कोई बहुत बड़ी कठिनाई नहीं रहती कि फिर जो न्याय होता है या सन्तुलन बनता है वह उस बड़े पैमाने पर जा कर बनता है, छोटी छोटी इकाइयों का अलग-अलग एक समीकरण बने यह तब अनाव-

प्रेयक जान पड़ता है, यह शायद सम्भव भी नहीं है। लगता है कि ऐसा नहीं होता होगा, किसी बड़े पैमाने पर जा कर ही सब चीजों का हिसाब बराबर होता होगा।

निरन्तर आप की कविता में रूप के प्रति एक आकर्षण मिलता है। दूसरी ओर अरूप के प्रति भी उतना ही आकर्षण मिलता है। बल्कि कहीं-कहीं लगता है—जैसे एक चिड़िया गा गयी वाली कविता है, उस का शीर्षक भूल रहा हूँ—जिस में यह कहा गया है एक अरूप को उधार देते मानो डर लगता है, न जाने ऐसा कौन है। दूसरी ओर यह भी है जैसे 'आँगन के पार द्वार' की कविताएँ हैं, जिन में है कि 'रूपों में एक अरूप सदा खिलता है' या कि 'आत्मा की भाँवरें महाशून्य के साथ रची गयीं'। तो क्या इन दोनों में आप कोई अन्तर्विरोध नहीं देखते—इन दो तरह की अभिव्यक्तियों में ?

जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं तो यह कह सकता हूँ कि अगर उस में विरोध है भी, या किसी को दीखता है तो मुझे क्या !

आप को क्या लगता है ?

आप बताइये कि विरोध क्या आप को दीखता है ?

मुझे लगता है एक तरफ अरूप के प्रति इतना आकर्षण है और सभी रूपों में एक अरूप को देखते हैं, वह 'महाशून्य' भी अरूप ही है जिस के साथ आत्मा की भाँवरें रची जाती हैं। दूसरी ओर निरन्तर आप एक रूप को ही महत्त्व दे रहे हैं और जहाँ मन में एक सन्देह है, एक डर जो उस कविता में प्रकट होता है जहाँ उस अरूप को उधार देते हुए मन डरता है—यानी अरूप के प्रति समर्पण करते हुए मन डरता है—तो क्या इस में ऐसा नहीं लगता कि ये दो तरह की मनःस्थितियों में लिखी हुई कविताएँ हैं ? जब कि हुआ यह कि 'आँगन के पार द्वार' वाली कविता पहले लिखी गयी है, यह बाद में—छपी तो बाद में ही है, यह बिल्कुल तय है, मैं नहीं जानता कि लिखी कब ? क्यों कि एक कविता 'आँगन के पार द्वार' की है और दूसरी 'कितनी नावों में कितनी बार' की पहली कविता है।

नहीं। एक तो यह है कि दार्शनिक को अपने सारे विचारों में जिस तरह का सामंजस्य चाहिए, कवि को उस की आवश्यकता नहीं होती, और अगर वह उस के पीछे जाये तो फिर एक दूसरी नीरसता ही उस को मिल सकती है। इस अर्थ में तो फिलासफी में और काव्य में एक

अन्तर है। वैसी कन्सिस्टेंसी कवि का प्रयोजनीय नहीं है। नहीं तो इस तरह के दार्शनिक सवाल भी उठ सकते हैं कि यह जो शून्य की बात आप करते हैं तो बौद्ध दर्शन में जाते हैं और अरूप की बात करते हैं तो वेदान्त में जाते हैं—यह सब क्या घपला है ?

मैं केवल संवेदनागत बात कर रहा हूँ।

शून्य भी मेरे लिए तो वह नहीं है जो कि अंग्रेज़ी का वैकुअम है। इस को अगर आप अन्तर्विरोध ही मानते हैं तो ठीक है, वह तो कविता में होता है और इस की परवाह नहीं करनी चाहिए। और अगर वैसा नहीं है तो रूप और अरूप की जो बात है, अगर ऐसा है कि "रूपों में एक अरूप सदा खिलता है", तो क्या नहीं दोनों के प्रति आकर्षण होना चाहिए ? और क्यों नहीं यह प्रश्न सब के सामने आते रहना चाहिए कि दोनों में क्या सम्बन्ध है कि हम एक के माध्यम से कैसे दूसरे को पहचानें ?

> **नहीं, यह सवाल इस लिए भी थोड़ा-सा महत्त्वपूर्ण लगता है कि अरूप के प्रति अगर केवल इस तरह का सन्देह ही व्यक्त हुआ होता और वह कविता में पहले हुआ होता,—अब मैं नहीं जानता क्या क्रम रहा होगा—तब तो मुझे विकास के क्रम में लगता कि शायद ऐसा सम्भव है। लेकिन जिस दृढ़ता के साथ, बहुत गहरे विश्वास के साथ यह बात कही गयी है कि "रूपों में एक अरूप सदा खिलता है" और उस के साथ जुड़ी हुई दूसरी कविताओं में, उस के बाद की कविताओं में, सन्देह है, तो मुझे थोड़ा सा लगा कि ऐसा क्या है ? इस लिए मैंने यह सवाल पूछा। यह तो मैं मानता हूँ कि कविता में इस तरह का अन्तर्विरोध महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि शायद यह कहना चाहिए कि कवि की संवेदना ही इन सब को अपने घेरे में, परिधि में, लेती है क्यों कि वह केवल तर्क के आधार पर तय नहीं करता है।**

सिर्फ़ कविता की बात न कर के कवि की ही बात करें तो इस कवि की शिक्षा दीक्षा तो जितनी भारतीय चिन्तन में हुई उतनी ही विज्ञान में। बल्कि जो औपचारिक शिक्षा थी वह तो विज्ञान की हुई—भौतिक विज्ञान की। फिर राजनीति की जो पहली दीक्षा हुई उस में जड़वाद को महत्त्व दिया गया था जो विज्ञान का तत्कालीन रूप भी था। (विज्ञान ने भी उतनी दृढ़ता से जड़ पदार्थ से सृष्टि मात्र की उत्पत्ति मानने का आग्रह छोड़ा नहीं तो कम ज़रूर कर दिया—या यह कहा कि इस बारे में हम जानते नहीं हैं। यह भी बाद की बात हुई।) तो अगर चिन्तन वैसा है और कविता में पहले इस तरह के आग्रह प्रकट होते हैं या उस से भिन्न

आग्रह नहीं प्रकट होते हैं तो इस को चिन्तन का स्वाभाविक विकास या कि दीक्षा के आधार पर आत्म का विकास मानना चाहिए। मैं एक तो चेतन की अपनी सत्ता मानता हूँ। कैसे पहले के जडवाद के साथ, या भौतिक विज्ञान के आग्रहों के साथ इस बात का मेल बैठाता हूँ, इस का मेरे पास कोई जवाब नहीं है। इतना ही है। इस से प्रतिकूल आग्रह ले कर चलें तो भी यह सारा विश्व समझ में नहीं आता समस्याएँ बनी रहती हैं। विज्ञान भी यह कहता है कि उतना ही मान कर चलना चाहिए कम से कम मानना चाहिए उतना ही जितने से कि जो तथ्य सामने है वे समझ में आ सकें। मैं यह कहूँ कि मुझे जान पडता है कि चेतन तत्व का मानने से कुछ चीजें समझी जा सकती हैं जो अन्यथा नहीं समझी जा सकतीं और काव्य के लिए यह आधार काफी है। और अगर जुडाव की बात भी करते हैं, विश्व से जुडने की बात भी करते हैं, तो वह चेतन के स्तर पर ही होता है। जड से जड के जुडने का कोई आग्रह कविता में कुछ अर्थ नहीं रखता।

कहीं भी अर्थ नहीं रखता ?

हां चेतन से जुडने का ही अर्थ होता है। पंचत्व-प्राप्ति की बात छोडिए।

चेतना की स्वतन्त्र सत्ता की बात आपने की। और अभी थोडी देर पहले एक विश्व चेतना या एक परम चेतना की बात भी आपने की—कि उस में से छोटी छोटी चेतनाएँ उभरती हैं और फिर उस में विलीन होती हैं। रूप और अरूप की बात भी हुई। तो क्या उस चेतन सत्ता का कोई स्पष्ट रूप भी आप मानते हैं, उस परम चेतन सत्ता का कोई भी रूप आप मानते हैं या अरूप ही उसे मानते हैं ? दूसरे शब्दों में कहूँ तो क्या उसे ईश्वर जैसी किसी अवधारणा के निकट समझते हैं ?

पता नहीं। इस से ज्यादा कोई निश्चयात्मक जवाब तो कभी मेरे सामने नहीं आया। हो सकता है, लेकिन मैं नहीं जानता।

एक कवि के रूप में आप की संवेदना में किस तरह का अहसास होता है ? दार्शनिक रूप में या चिन्तन से उस को पुष्ट करें यह आवश्यक नहीं है—तर्क से पुष्ट करने की बात नहीं कर रहा हूँ।

दोनों ही हो सकते हैं, दोनों ही स्वीकार हो सकते हैं दोनों ही समृद्धि दे सकते हैं। और मेरा इन के बीच अभी अपना कोई चुनाव नहीं हुआ है।

जब आप एक कविता में यह कहते हैं कि "तू बढ़ा कर हाथ सहसा खींच लेता, गले मिलता है", तो जो 'तू' है वह क्या कोई अरूप ही है, या आप के मन में कोई इस का रूप भी है ? स्पष्ट न हो तो भी

क्या एक रूप है उस का ?

नहीं, इस में आगे बढ़ेंगे तो भाषा की सीमाओं का भी विचार वहाँ करना पड़ेगा।

अरूप भी हो सकता है, यह तो मैं मानता हूँ। अरूप के लिए भी 'तू' का इस्तेमाल तो हो सकता है।

हाँ। पर इस तरह की बातों में यह परिणाम निकालना ठीक नहीं होगा कि मैं उस रूप में ईश्वर में—

ईश्वर चाहे न सही, क्यों कि इस कविता में पहले जो बात कही गयी है वह यह है कि—

पश्चिमी परिभाषा में जिसे पर्सनल गॉड कहते हैं—मैं नहीं जानता।

लेकिन इस कविता में पहले जो कहा गया है, कि एक रूपातीत पुनीत गहरी नींव है और उस में से तू बढ़ा कर हाथ सहसा खींच लेता है—तो रूपातीत की स्थिति तो पहले से है और उस में से एक और 'तू' पैदा होता है। यह सवाल इस लिए मन में उठता है कि रूपातीत में से कोई एक और रूप निकलता है, वह 'तू' है, या रूपातीत का भी कुछ और आधार है वह 'तू' है। इस तरह

नहीं इस का जवाब मैं नहीं जानता और आवश्यक भी नहीं है। क्यों कि हाथ बढ़ा कर जिसे ग्रहण किया जाता है वह भी उस स्तर पर तो चेतना का ही पुंज है। कोई सरूप चीज़ नहीं है जिस का ग्रहण किया जा रहा है। एक तरफ़ अगर चेतना को ग्रहण किया जा रहा है तो दूसरी तरफ़ भी चेतना के द्वारा ही ग्रहण किया जा रहा है, इतना तो उस में है। लेकिन इस से ज्यादा रूप उसे देना अनावश्यक है। मैं यह भी सोचता हूँ कि गॉड की प्रेज़ेंस की प्रतिज्ञा के बिना भी डिवाइन की प्रेज़ेंस की बात सोची जा सकती है—और उस तत्त्व के अनुभव का महत्त्व है।

ठीक है।

काल-बोध की ही कुछ और बात करना चाहता हूँ। एक तरफ़ आपने भारतीय काल-बोध की या जिसे पूर्वी कह सकते हैं उस की चर्चा करते हुए उस को चक्राकार माना है, वर्तुलाकार माना है, और दूसरी ओर पश्चिमी काल-बोध को आपने एक रैखीय माना है या कि ऐतिहासिक काल इसे कहा है। बल्कि सावधि काल भी उसे कह सकते हैं। लेकिन लगता यह है कि पश्चिम में भी अन्ततः इस सावधि काल को लाँघ कर, उस का ट्रासेंड कर के, निरवधि काल में प्रवेश ही जीवन का उद्देश्य है। क्यों कि अन्ततः 'पराडाइज़ रीगेन' करना है, जो बात हिब्रू परम्परा से शुरू होती है और उस

जिस नत्रगनि की बात करते हैं उस म ऐसा कोई अन्त तो नही हाता।

हाँ, पर इस में भी, ईसाई मत में भी जो अन्त होता है उस के बाद
भी एक निरवधि काल है। पुन स्वग में पहुँचने के बाद का जो
काल है। यह नहीं है कि उस के बाद सष्टि नष्ट हो जाती है—
उस के बाद भी उस में एक निरन्तरता बनी रहती है। लेकिन
कोई मानवीय काल वहाँ नहीं रहता। तो यदि एक निरवधि काल
की कल्पना वहाँ भी इस तरह हो जाती है, तो फिर बुनियादी
फर्क क्या होता है दोनों स्थितियों में?

निरवधि तो फिर उस को नही कह सकते। सिर्फ अन्तहीन कह सकते हैं।
या—

या कालहीनता की स्थिति कह सकते हैं, 'टाइमलसनस' जिसे कहा
जाता है।

हाँ।

एक बात और मैं जानना चाहता हूँ क्यो कि आपने उस की भी
काफी चर्चा की है। क्यो कि काल-बोध ही सस्कृति का मुख्य आधार
है, और हमारे कला रूपो पर भी काल बोध और दिग्बोध का
प्रभाव रहता है क्यो कि वे इन्हीं को व्यक्त करते हैं, तो अगर
पश्चिमी काल बोध में और भारतीय काल-बोध में या पूर्वी काल
बोध में कोई फर्क आप देखते हैं—जो कि आप देखते हैं—तो
इन दोनो सस्कृतियो के काव्य रूपों में क्या सरचनागत कोई फर्क,
बुनियादी अन्तर आप पाते हैं?

पहली बात ता यह है कि थोडा सा सशोधन करूँ। सस्कृतियो का आधार
भाषा है। भाषा के बिना सस्कृति नही है। और काल-बोध के बिना
भाषा नही है। इस लिए सस्कृतियो म विशिष्ट काल बोध पाते हैं और
उन की समस्याएँ भी भाषा के साथ जुडी हुई है, उस से अलग नही की
जा सकती। आपने जो सवाल उठाया वह शायद भाषा के बारे मे नही
है, वह लय के बारे मे अधिक हो जाता है शायद।

यह तो मैं अब पूछने वाला हूँ। अभी तक तो कला रूपो के बारे
में ही पूछ रहा था।

कला रूपो के बारे मे? उपन्यास मे तो ऐसा काल हाता है। आवर्ती काल
भी वहाँ पर है हमारी कहानियो मे। पूर्वी देशा की कहानियो म ही
आवर्ती काल का उल्लेख है, पश्चिम की नही। उन म एक दूसरी तरह के
काल का सकेत तो कभी-कभी मिलता है। मैंने विस्तार से इस का विचार
अपनी पुस्तक सवत्सर मे किया है। कहानियो के आरम्भ मे इस

तरह के सकेत मिलते हैं जहाँ कि एक सनातन, अनन्त वर्तमान की कल्पना है। (ऐसा दूसरी सभ्यताओ मे भी है।) काव्य मे, यानी काव्य के उस रूप मे जिस को आज काव्य कहते हैं यानी कविता मे, तो यह बात छन्द के साथ जुड़ती है। उपन्यास, कहानी वगैरह और नाटक बाहर चले जाते हैं। वहाँ भाषा के साथ तो समस्या जुड़ी रहती है लेकिन कविता के साथ फिर वह लय की समस्या हो जाती है। हाँ भारतीय सगीत मे जरूर काल का एक ऐसा बोध दीखता है जो कि पश्चिम के काल-बोध से अलग है यानी उन के सगीत मे जो दीखता है उस से अलग है। और उस मे यह जो सम पर लौटना है बार-बार यह काल के आवर्तन का एक रूप है। वहा पर तो मैं समझता हूँ फर्क है, काल का अन्तर है। बाकी काव्य मे लय मे कहाँ यह दीखता है, यह शायद सोचने की बात होगी तत्काल उदाहरण तो नही दे सकता।

मुझे लगता है कि सैद्धान्तिक स्तर पर अगर यह मान लेते हैं तो यह दीख सकना चाहिए काव्यों मे, खास तौर से इस लिए भी कि कविता क्यों कि साहित्य का सब से प्राचीन रूप है और दो सस्कृतियो मे या काल-दृष्टियों मे यह भेद है तो इन दोनों काल-दृष्टियो से उपजने वाली कविता मे भी और उस के खास तौर से लय विन्यास मे यह भेद होना चाहिए। 'डेस्क्रिप्शन' के रूप मे या उक्ति के रूप मे तो शायद बहुत जगह देखा भी जा सकता हो, लेकिन उस की पूरी सरचना मे यह दिखाई दे सकना चाहिए, मेरा ऐसा ख्याल है। यदि यह नहीं दिखाई देता तो कहीं

काव्यो मे या साहित्य मे कहं तो दीखता है। इतिहास की जो परिभाषा है उस मे भी यह ठीक है। (इतिहास और हिस्टरी मे अन्तर है।) और अनुष्ठानो के साथ जो कथाएँ जुड़ी होती हैं उन मे भी कुछ यह होता है।

अन्य सभी जगहो पर यह दीखता है। इस लिए यह सवाल मेरे मन मे उठा है। कविता की सरचना मे भी यह दीख सकना चाहिए। इसके लय विन्यास मे भी दीख सकना चाहिए।

इस के अलावा भी कुछ और सवाल मैं करना चाहता था। यह कुछ सकोच के साथ कर रहा हूँ, आप की कविताओ के बारे मे ही। आप की कविताओं मे खास तौर से जिस गुण की बहुत चर्चा हुई है वह यह कि एक बहुत ही असाधारण काव्य सयम उन मे दिखाई देता है। लेकिन कहीं-कहीं, बल्कि कह सकता हूँ उतनी ही सीमा तक शायद इस तरह की कविताएँ दिखाई देती हैं जो किन्हीं दूसरी कविताओं की व्याख्या-सी करती रहती हैं, या उन्हीं मे अन्त

मे अनुभव की एक व्याख्या जसी हो जाती है। वह व्याख्या 'पोएटिक' होती है इस मे कोई स देह नहीं, पर लगता है जसे पूरी कविता के अ त मे एक जोड-सा है। इस के लिए मैं 'असाध्य वीणा' के अ तिम अश को कोट कर सकता हूँ। 'एक बूद सहसा उछली' वाली जो कविता है उस के भी अ तिम अश को मैं कोट कर सकता हूँ। मुझे लगता है उस के बिना भी वह सारा अनुभव काव्यात्मक स्तर पर सम्प्रेषित होता है—चाहे उक्ति के रूप मे सम्प्रेषित न होता हो, सीधा विचार के रूप मे सम्प्रेषित न होता हो। क्या काव्यानुभव को विचार के रूप मे सम्प्रेषित करना आप इतना अनिवार्य मानते हैं ?

ये जो आपने दो उदाहरण दिये, ये तो बिल्कुल अलग अलग तरह के हैं। जो छोटी कविता है उस म वह जो दीखना है—उछलती बूद का आलोकित हो उठना—वह तो इतना छोटा, इतना सघन अनुभव है कि उस 'उ मोचन' की भावना ही उस मे प्रधान है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि उस मे स्टेटमेट है। एक ही इकाई है उस आलोकित बूद को देखना और उसी क्षणिक झाकी म मुक्ति का अनुभव, उस की पहचान। अगर वह बिना कहे भी कही जा सकती है तो उस मे और अच्छी कविता होगी लेकिन उतनी छोटी रचना म वह कह भी दी जाये तो इकाई टूटती नहीं। लेकिन असाध्य वीणा' के अन्त म जो बात है वह तो बिल्कुल दूसरी है। उस का आप आरम्भ देखिए। आरम्भ बडे नाटकीय ढग मे होता है— आ गये प्रियम्वद, केश कम्बली, राजा न आसन दिया" —वगरह। आ गये तो आ गये, उस के बाद कहानी चल पडती है। तो इस प्रकार एकाएक उस के पाठक या श्रोता को हम एक काव्य के दूसरे आयाम मे ले जाते हैं जिस मे यह घटना होती है और कहना चाहिए इतिहास की परिभाषा मे इति ह आस—वह घटना घटित होती ही चली आयी है अब तक। अ त मे जो युक्ति है वह इस लिए अपनायी गयी है कि उस काल से हम श्रोता या पाठको को वापस सामा य काल मे ले आते हैं—"युग पलट गया/उठ गयी सभा/सब अपने अपने काम लगे/ यो मेरी वाणी भी मौन हुई ।"

यह भी एक तरह से अनावश्यक होता है—कहानी तो इस से पहले समाप्त हो गयी जब "केश कम्बली गुफा गेह मे चला गया।" लेकिन वह काल समाप्त हो गया। उस के बाद पाठक को जब सीधे सम्बोधन करते हैं तो उसे उस देश-काल से, उस घटना से, खीच कर उस के सामा य जीवन मे प्रतिष्ठित करते हैं—सीधे सम्बोधन से

एक प्रकार से सामान्य स्थिति में ले आते हैं। और सामान्य स्थिति में ले आना क्यों जरूरी है, इस का एक उत्तर यह भी है इस प्रकार उस दूसरे काल की जो चुनौती है उस में हम पाठक/श्रोता को बचा भी लेते हैं और मुक्त भी नहीं करते।

नहीं, मैं जो कहना चाह रहा था वह दूसरे ही अंश के बारे में था। मैं यह भी जानना चाहता था लेकिन इस के साथ साथ यह कि प्रियम्वद को जब राजा और सब लोग 'धन्य धन्य' कहते हैं, श्रेय देने लगते हैं, जब कवि यह कहलाता है कि—"श्रेय नहीं कुछ मेरा, मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में/जो कुछ सब ने सुना, वह तो सब कुछ की तथता थी"—आदि, इस तरह की जो पंक्तियाँ हैं—तो मुझे लगता है पूरी कविता का एक सारांश दिया गया है। जो काव्यानुभव के पूरे रेशे रेशे में फैला हुआ है उस का इस तरह अलग एक जिस्ट निकाल कर दिया गया है इन पंक्तियों में। वह अपने में बहुत पोएटिक है, पर क्या आवश्यकता थी उसे इस तरह से रखने की?

इस की आवश्यकता यह थी कि इस का हटा कर आप देखिए कि बात बनती है या नहीं। दृष्टान्त काव्य में तो सब का सब दृष्टान्त ही होता है। असल बात तो वही होती है जो निष्कर्ष के रूप में निकले।

लेकिन एक आधुनिक कवि के रूप में खास तौर से एक ऐसे कलाकार के रूप में जो कि इतना सक्षम है कि बिना उस के सारी बात कह सकता है—पूरी कविता अभिव्यक्त करती है सारी बात—पेड़ के साथ जिस तरह का लगाव है ज़ाहिर है 'सब-कुछ की तथता' के साथ ही लगाव है। इस लिए मुझे लगा कि यह, सम्प्रेषण का जो आग्रह आप का रहता है उस की वजह से है या किसी काव्यात्मक अनिवार्यता की वजह से ऐसा हुआ है? मैं जब भी कविता को पढ़ता हूँ तो वह भाव पहले से आ चुका होता है मेरे मन में। तब मुझे लगता है अलग से इस को लाने की क्या आवश्यकता थी?

पहली बार पढ़ी थी तब से यह बात सच है या बाद में जब पढ़ी तब से यह सच है?

पहली बार पढ़ी थी तब से यह सच है इतना तो अब नहीं स्मरण कर के कह सकता, पर यह जरूर है उस को पढ़ता हूँ तो लगता है कि हाँ, यह बात समझ में आ रही है।

मैं समझता हूँ कि जो संस्कारवान पाठक है, सम्भव है उस को वही बात समझ आ जाये जहाँ "काँपी थीं उँगलियाँ" वाला उल्लेख है—वह पाठक वहीं भाँप जायगा कि पूरी कथा क्या है। लेकिन सभी लोग वैसा करेंगे

ऐसा मुझे नहीं लगता। फिर जो "अवतरित हुआ ब्रह्मा का मौन" वाली बात है ठीक है कि एक स्टेटमेंट है, लेकिन संगीत ने क्या किया—बिना बताये शायद पाठक वहाँ तक नहीं पहुँच सकता है।

यह तो ठीक है। अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग जो 'मीनिंग' हैं जो वे सुनते हैं—समझ में आता है कि वह बताना भी जरूरी था।

अगर इतना ही कहा गया कि संगीत का यह सब असर हुआ, तो फिर तो उस के बाद मैं समझता हूँ यह कहना अपेक्षित है कि 'यह मैंने नहीं किया, यह आप सब लोगों ने स्वयं किया, *आप ही में इस की सम्भावना है।*' नहीं तो सारी बात झूठी हो जाती है। अगर प्रियम्वद को इस का श्रेय है—यह प्रभाव पैदा करने का—तब तो सारी कविता में जो कुछ कहा गया है उस का एक तरह से नकार हो जाता है।

हाँ, चरित्र के रूप में अगर प्रियम्वद को देखें तब तो शायद यह बात ठीक लगती है जो आप कहते हैं। लेकिन यह लगता है कि आखिर यह चरित्र भी जो चुना गया वह एक अनुभव को व्यक्त करने के लिए ही चुना गया है। उस चरित्र को इस तरह से उस अनुभव के अनुकूल ही प्रस्तुत किया गया है। तब यह लगता है कि वह चरित्र उस तरह से भी जब बात को रख रहा था, उस के बाद केवल आवर्जन करना हो, राजा को धन्यवाद [illegible] रोकना ही पर्याप्त होता। हो सकता है यह उस तरह की ही बहस हो जैसी कि इस कविता की दो पंक्तियों को लेकर चलायी जाती रही है। हो सकता है यह आप ठीक ही कह रहे हों पर

मैं समझता हूँ 'यह तो सब कुछ की तथता थी' यह कहना, और उस में यह ध्वनित करना कि यह आप की भी तथता है उस को पहचानिए—चुनौती तो वही है और सन्देश भी वही है।

दूसरी बात जो मैं कविताओं के बारे में ही कहना चाह रहा था—यह अक्सर आरोप की भाषा में ही कही जाती रही है पर मैं उस तरह से नहीं कहना चाहता—मैं यह जरूर जानना चाहता हूँ कि समकालीन बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का प्रभाव आप की कविता पर नहीं दिखाई देता और कुछ घटनाओं का दिखाई देता है—उदाहरण के लिए पाकिस्तान के साथ जो युद्ध हुआ उस का असर दीखता है और कुछ कविताएँ आपने लिखी हैं उस समय, युद्ध के समय। लेकिन बांगलादेश के समय का और उस के पहले चीन के साथ जो युद्ध हुआ उस का इस तरह का स्पष्ट असर नहीं दिखाई

देता। इस की क्या वजह रही होगी ?

एक तो यह है कि जिन दो की जो आपने तुलना की उन म एक तो मेरे अनुभव के क्षेत्र मे काफी प्रत्यक्ष था और दूसरे का वैसा अनुभव नही था। दूसरे, बाग्लादेश वाली घटनाओ का भी उल्लेख है, उतना सीधा नही है क्यो कि उतना सीधा वह मेरे अनुभव के क्षेत्र म आया नही—लेकिन एसी कविताएँ हैं जिन का सम्बध (मसलन) शेख मुजीब से था। मैंने कविता मे नाम उन का नही लिया, लेकिन कविता का सम्बध है उन स। यह तो जरूरी नही होता कि घटनाओ का सीधे सीधे उल्लेख किया जाये और उस मे कोई पक्ष लिया जाये—यह तो अपने आप दीख जाता है कि कवि कहाँ है।

सामान्यत यह मानते हैं कि चीन के युद्ध के बाद या उस से भारतीय समाज मे एक मोह भग की शुरुआत होती है—आजादी के बाद से जो एक तरह के भ्रम मे जीवित रहा समाज। उस के बाद राजनीति मे भी काफी परिवतन होते हैं और दूसरी तरह के परिवतन होते हैं। कविता मे भी एक अलग तरह का परिवतन तब से दीखता है बहुत-से कवियो मे—जो पहले लिखते रहे उन मे भी, जिन लोगो ने उस के बाद लिखा उन मे भी। क्या आप ऐसा कहना ठीक मानते हैं कि मोह भग के नाम से एक काव्य धारा शुरू हुई ?

नही, ऐसा तो मुझे नही लगता उस स हुआ। जो एक झूठी आदश-वादिता थी भारतीय समाज मे, उस को जरूर उस से एक झटका लगा और राजनीति एक व्यावहारिक स्तर पर आयी, जहाँ कि आदश छोडे भी जाते हैं, बदले भी जाते हैं, सौदे भी होते हैं, इत्यादि—जो सब व्यावहारिक राजनीति का अश है। लेकिन जो मोह भग हुआ वह सिफ चीन की जिस तरह की मैत्री के बारे म लोग कल्पना करते थे और विश्व मत्री की जसी कल्पना करते थे उस के बारे मे हुआ। राजनीति मे मित्र और अमित्र समय समय पर बदलते रहते हैं—जिस का जसा राजनीतिक उद्देश्य या प्रयोजन हो, उस के आधार पर—यह समझ विकसित हो गयी। लेकिन भारतीय राजनीति मे जो मोह भग हुआ उस के कारण और भी थे। आजादी से जिस तरह की अपेक्षाएँ बन गयी थी वे पूरी नही हुई। कहना चाहिए कि वास्तव म वह आजादी ही अधूरी हुई है यह ज्ञान धीरे धीरे प्रकट हुआ। मोह भग तो उस के साथ जुडता है।

यह तो मैं नहीं कहूँगा कि आपने राजनीतिक या सामाजिक विषयों

पर कविताएँ नहीं लिखीं या इस तरह की चेतना बिल्कुल ही आप की कविताओ मे नहीं मिलती क्यों कि मैं जानता हूँ कि यह बहुत सी जगहों पर है। लेकिन फिर भी यह जरूर लगता है कि अगर आप की कविताओ का एक प्रतिनिधि सकलन कोई भी तयार करे तो उस मे उस तरह की कविताएँ नहीं होगी और काव्यगत—

नही होगी, ऐसा तो नही।

नहीं होगी का मतलब मुझे लगता है कि अगर उत्कृष्ट कविताएँ मुझे चुननी हो तो शायद वे कविताएँ कम होगी या सम्भवत बिल्कुल नहीं होगी जो राजनीतिक विषयो से सम्बन्धित कविताएँ आपने लिखी हैं या कुछ घटनाओ से प्रेरित हो कर लिखी हैं। वे कविताएँ दूसरी हैं, जिन का मैं नहीं जानता नामकरण कसे किया जाये, लेकिन जिन्हे सामान्यतया 'पसनल पोएम' या आध्यात्मिक कविता कह सकते हैं 'लव पोएम' कह सकते हैं, इस तरह की कविताएँ उस मे ज्यादा होगी। और आप की काव्य प्रतिभा भी सर्वाधिक उन मे ही मुझे लगता है अभिव्यक्त हुई है, ज्यादा 'मच्योरिटी' के साथ हुई है। ऐसा क्या है? क्या आप का जुड़ाव उन से बहुत गहरे स्तरों पर नहीं रहा है? या जब तक चीजें 'पसनल एक्सपीरिएंस' तक नहीं पहुँचीं तब तक, गहरे स्तरों तक नहीं पहुँचीं तब तक, उन का काव्य रूप भी उतना 'मच्योर' नहीं हुआ है?

ऐसा क्या है इस का तो कवि क्या जवाब दे सकता है?

आप को खुद लगता है या नहीं?

है तो है, बस—यही जवाब इस का हो सकता है। लेकिन उस तरह की चेतना नही है या कुल मिला कर मेरे लेखन मे व्यक्त नही हुई है,—

यह तो मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं कह रहा हूँ कि हुई है।

हाँ, आप कह भी नही रहे है। कविताओ मे कम हुई है। इस को दूसरी तरह मैं यो भी कह सकता हूँ कि दूसरी विधाओ मे हुई है।

यो कहूँ कि पत्रकारिता मे

यह भी है कि इधर की हिन्दी कविता का एक सकलन तयार करें तो उस मे वह पक्ष लगभग अनुपस्थित होगा जो कि मेरी कविताओ मे है, और राजनीति की बहुत सी कविताएँ होगी।

नहीं, यह बात इस लिए भी कभी कभी मुझे आश्चर्यजनक लगती है कि आप का सामाजिक सवालों के साथ, राजनीतिक सवालों के साथ और आर्थिक सवालों के साथ एक पत्रकार के रूप में

जो जुडाव रहा है, और निरंतर आप उन पर विचार करते रहे, चिंतन करते रहे, लिखते भी रहे सामाजिक सवालो के बारे मे भी, सारे समाज की कमियो की ओर सकेत भी एक पत्रकार के रूप मे करते रहे हैं—शायद ही कोई घटना ऐसी हुई हो जिस पर उन दिनो मे आपने कोई 'कामेंट' न किया हो—तो ऐसी स्थिति मे फिर कविता में वह चीज क्या नहीं आ पाती ?

एक तरह से आप का ऐसा नही लगता है कि आप के सवाल मे ही उस का जवाब भी है ? अगर कुछ बातें कहने के मेरे पास दस और साधन थे, और कुछ बातें कहने का सिवाय कविता के कोई रास्ता नही था तो ऐसा क्यो नही होना चाहिए ? एक तो यह है कि अगर ये सब बातें मैंने न कही होती तो किसी न न कही होती। दूसरे यह कि मैं भी उन्हे कह सकता था तो कविता मे ही कह सकता था, और दूसरी बातें अन्य विधाओ मे भी कही जा सकती थी और कही गयी।

हाँ। इसी लिए लगता है—यह तो समझ में आता है—कि जो सामाजिक दायित्व है वह पूरा भी होता है। पर कविता में जसी बहुत सी बातें आती भी हैं, वे उतनी गहराई के साथ नहीं आतीं तो लगता है कहीं चेतना के बहुत गहरे स्तरो पर कहीं इन सवालो के साथ जो जुडाव है वह अस्तित्वगत स्तर पर महसूस नहीं करते, केवल नतिक स्तर पर महसूस करते हैं। क्या ऐसा है ?

इन सवालो का मैं नही जानता कि हाँ या न' मे क्या जवाब दे सकता हूँ। लेकिन यह जरूर है कि राजनीतिक प्रश्नो को ले कर मैंने राय प्रकट की है और उस के बारे म किसी का सन्देह मे नही रखा और या रहने दिया। लेकिन इस के साथ साथ जो राजनीतिक कर्म है वह नही किया, यह सवाल बन सकता है कि अगर एसे विश्वास थे तो कर्म मे क्यो नही प्रकट हुए ? और इस का जवाब भी यह होता है कि क्यो कि मैं क्रियात्मक राजनीति मे नही जा रहा था इस लिए इस स अधिक

उस में भी आप गये। जब आवश्यकता थी तब तो गये ही।

उस से अधिक अनावश्यक था। लेकिन मेरी जो भी राय है, जो भी कह लीजिए स्टैंड है, वह तो स्पष्ट रहा है। उतना काफी है। उस से आगे अगर

शायद विरोध का कारण भी ज्यादातर वही रहा है मुझे लगता है—इस राय का ऐसा स्पष्ट होना हो ! मेरा सवाल कविता ही को ले कर था। बाकी जगह विचार नहीं स्पष्ट है यह तो मैं नहीं कहता। बल्कि है, और बहुत साफ है। इस लिए कोई सन्देह नहीं।

इस मे ता इतना ही कहना है कि आप की यह बात शायद सही है कि कविता मे यह चीज कम प्रकट हुई है। नही है, या जितनी कम अभिव्यक्ति है उस के बावजूद भी वह बडी स्पष्ट नही है, मैं ऐसा तो नही मानता।

नहीं, स्पष्ट तो है। पर उतनी गहरी नहीं है जितनी प्रकृति की कविताओ में, प्रेम की कविताओ में या आध्यात्मिक अनुभव की कविताओं में। कहा जाये कि उन में जिस तरह की 'इंटेंसिटी' है वसी—

उस क्षेत्र या उस दिशा मे अनुभव मात्रा म ज्यादा हुए हैं, गहराई मे ज्यादा रहे हैं।

बल्कि क्या यह नहीं है कि राजनीति और अन्य चीजें कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हों, इस तरह से एक आध्यात्मिक अर्थों में या बहुत गहरे भावनात्मक अर्थों में हमारे अस्तित्व का हिस्सा नहीं बनतीं जिस तरह से कि आध्यात्मिक या इस तरह के सौन्दर्य के अनुभव बनते हैं ?

आप यह पूछ रहे हैं कि बन नहीं सकती ?

हां।

यह तो मुझे नही मालूम। सामान्यतया, हां, ऐसा मान भी सकता हूं। पर राजनीतिक सिद्धान्तो की चुनौती कभी उतनी गहरी नही हो सकती यह नही कहूँगा। व्यावहारिक राजनीति की नही होती, वह ठीक है। पर सिद्धान्तो को लेकर आध्यात्मिक स्तर का लगाव आप को और कहाँ दीखता है—कविता मे, समाज म, या हमारी राजनीति मे भी ? ठोस व्यावहारिक समाज म जी रहे हैं हम।

□□

* यह सवाद दिसम्बर १६८५ में दिल्ली में हुआ।